दिसंबर -2021
वर्ष-85 । अंक-12 । ₹-19 प्रति । ₹-220 वार्षिक

धर्म एवं अध्यात्म के तत्वज्ञान का वैज्ञानिक विश्लेषण

अखण्ड ज्योति

गायत्रीतीर्थ शान्तिकुञ्ज
स्वर्ण जयंती वर्ष
1971-2021

18 महाविष है क्रोध
49 धरती पर सबसे शीतल क्षेत्र
29 वो विदेशी यात्री, जो प्राचीन भारत आए
57 श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्तित्व का मनोआध्यात्मिक स्वरूप

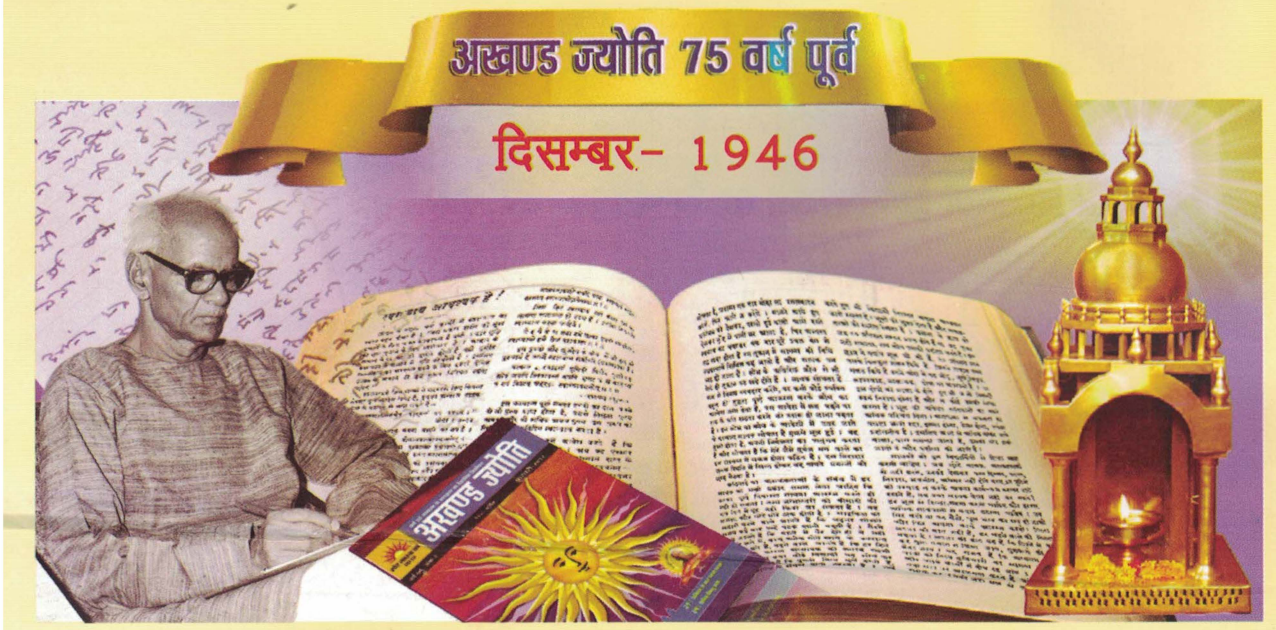

विपत्ति की आशंका से घबराइए नहीं

एक महापुरुष का कथन है कि 'कठिनाई' एक विशालकाय, भयंकर आकृति के, किंतु कागज के बने हुए हाथी के समान है। जिसे दूर से देखने पर बड़ा डर लगता है, पर एक बार जो साहस करके पास पहुँच जाता है, उसे प्रतीत होता है कि वह केवल एक कागज का खिलौना मात्र है। बहुत से लोग चूहों की खट-पट सुनकर डर जाते हैं, पर ऐसे भी लाखों योद्धा हैं, जो दिन-रात आग उगलने वाली तोपों की छाया में सोते हैं। एक व्यक्ति को एक घटना वज्रपात के समान असह्य अनुभव होती है, परंतु दूसरे आदमी पर जब वही घटना घटित होती है तो लापरवाही से कहता है—"उँह, क्या चिंता है, इससे भी निपट लेंगे।" ऐसे लोगों के लिए वह दुर्घटना 'स्वाद परिवर्तन' की एक सामान्य बात होती है। विपत्ति अपना काम करती है और वे अपना काम करते रहते हैं।

बादलों की छाया की भाँति बुरी घड़ी आती है और समयानुसार टल जाती है, बहादुर आदमी हर नई परिस्थिति के लिए तैयार रहता है, पिछले दिनों यदि मौज-बहार के साधनों का वह उपभोग करता था, पर जब मुश्किलों से भरे हुए अभावग्रस्त दिन बिताने पड़ेंगे तो वह इसके लिए भी तैयार रहता है। इस प्रकार का साहस रखने वाले वीर पुरुष ही इस संसार में सुखी जीवन का उपयोग करने के अधिकारी हैं। जो लोग भविष्य के अंधकार की दु:खद कल्पनाएँ कर-करके अभी से सिर फोड़ रहे हैं, वे एक प्रकार के नास्तिक हैं। ऐसे लोगों के लिए यह संसार सदा से दु:खमय नरक रूप रहा है और आगे भी सदा दु:ख रूप ही रहेगा। हमें चाहिए कि हर स्थिति में प्रसन्न रहें और भावी विपत्ति की आशंका से घबराने के बजाय उससे मुकाबला करने की तैयारी करें।

— पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य

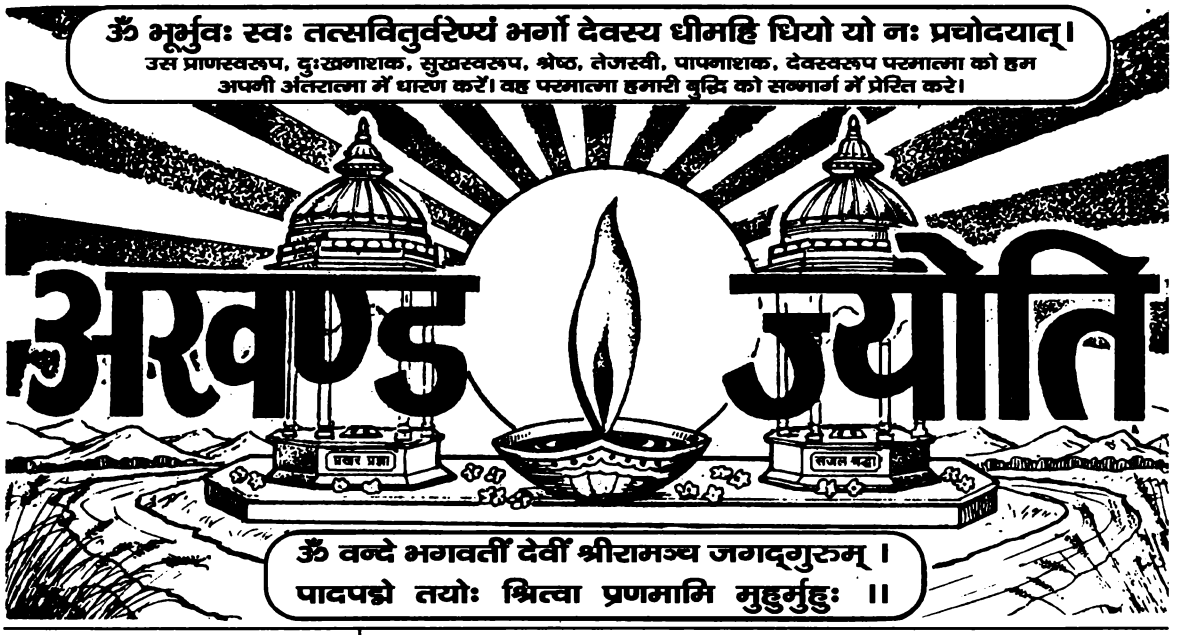

संस्थापक-संरक्षक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
एवं
शक्तिस्वरूपा
माता भगवती देवी शर्मा
संपादक
डॉ० प्रणव पण्ड्या
कार्यालय
अखण्ड ज्योति संस्थान
घीयामंडी, मथुरा (281003)
दूरभाष नं० (0565) 2403940, 2402574
2412272, 2412273
मोबाइल नं० 9927086291
7534812036
7534812037
7534812038
7534812039
कृपया इन मोबाइल नंबरों पर एस. एम. एस. न करें।
नया ईमेल-
akhandjyoti@akhandjyotisansthan.org
प्रातः 10 से सायं 6 तक
वर्ष : 85
अंक : 12
दिसंबर : 2021
मार्गशीर्ष-पौष : 2078
प्रकाशन तिथि : 01.11.2021
वार्षिक चंदा
भारत में : 220/-
विदेश में : 1600/-
आजीवन (बीसवर्षीय)
भारत में : 5000/-

उपासना

प्रत्येक कर्म का कोई-न-कोई कर्त्ता अवश्य होता है। किए गए कर्म के ऊपर परिणाम देने के लिए उसका अपना एक अधिष्ठाता भी होता है। परिवारों की व्यवस्था घर के मुखिया के हाथ में तो राष्ट्रों की व्यवस्था राष्ट्राध्यक्षों के हाथों में होती है। जिनके पास जैसी शक्तियाँ होती हैं—उन्हीं के अनुरूप अधिकार व दायित्व उनको प्राप्त होते हैं। यदि वो उनको प्रदत्त न किए जाएँ तो सर्वत्र स्वेच्छाचारिता, अन्याय का वातावरण व्याप्त हो जाए।

ऐसी ही निर्धारित व्यवस्था प्रकृति ने भी सब ओर अपनाई हुई है। सूर्य-चंद्र नियत समय पर निकलते हैं, नियत समय पर अस्त होते हैं। ऋतुओं के, मौसमों के समय निर्धारित हैं। ग्रहों की भी कक्षाएँ बँधी हुई हैं। इनमें से किसी को भी अमर्यादा का अधिकार प्राप्त नहीं है। परमात्मा ने यह व्यवस्था इतनी शानदार बनाई है कि यदि सभी मनुष्य इसका विधिपूर्वक पालन करते चलें तो कोई भी दुःखी, अभावग्रस्त या त्रस्त न रहे।

ईश्वर की उपासना इसी विधि-व्यवस्था के प्रति समग्र समर्पण का प्रतीक है। नदियाँ जब तक सागर से न मिल लें, तब तक वे अस्थिर और बेचैन ही रहती हैं। मनुष्य भी जब तक अपने रचयिता परमेश्वर से एकाकार न हो जाए, तब तक उसकी उद्विग्नता बनी ही रहती है। अपनी तुच्छ सत्ता को परमात्मा के प्रति समर्पित कर देने से मनुष्य कष्ट-कठिनाइयों से भी बचता है और संसार के आनंद का भी उपभोग कर पाता है। सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति भावभरा समर्पण ही उपासना का मूल आधार है। ❑

विषय सूची

- आवरण—1 — 1
- आवरण—2 — 2
- उपासना — 3
- **विशिष्ट सामयिक चिंतन**
  मानवीय उत्कर्ष—वर्तमान समय का सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन — 5
- जीवन में साधना का महत्त्व — 7
- सुकन्या का पतिव्रत धर्म — 9
- **पर्व विशेष (गीता जयंती पर)**
  अध्यात्म की अनूठी थाती—गीता — 11
- बच्चों को समय भी दें और संस्कार भी — 13
- बड़े सौभाग्य से जलती है हृदय में प्रभु प्रेम की आग — 15
- गुरु नानक देव का सच्चा सौदा — 17
- महाविष है क्रोध — 18
- श्रम एव जयते — 20
- मानवता के अग्रदूत—स्वामी विवेकानंद — 23
- समस्त योग-साधनाओं का समन्वय है पूर्ण योग — 26
- वो विदेशी यात्री, जो प्राचीन भारत आए — 29
- प्रकृति की सेवा व सुरक्षा ही है, प्रकृति की सच्ची पूजा — 31
- **चेतना की शिखर यात्रा—231**
  साधना स्वर्ण जयंती — 35
- प्राकृतिक जीवनचर्या — 38
- **ब्रह्मवर्चस-देव संस्कृति शोध सार—152**
  उच्च रक्तचाप का आयुर्वेदिक उपचार — 40
- गायत्री-साधना से शक्ति जागरण — 43
- देव संस्कृति की विशेषताएँ — 45
- **युगगीता—259**
  परमात्मा से द्वेष रखने वाले अज्ञानी, आसुरी मनुष्य — 47
- धरती पर सबसे शीतल क्षेत्र — 49
- **परमवंदनीया माताजी की अमृतवाणी**
  करोड़ों का परिवार—समर्पण है आधार — 51
- **विश्वविद्यालय परिसर से—198**
  श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्तित्व का मनोआध्यात्मिक स्वरूप — 57
- **अपनों से अपनी बात**
  समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु एक अभूतपूर्व कदम — 64
- सप्तक्रांति-महाभारत (कविता) — 66
- आवरण—3 — 67
- आवरण—4 — 68

आवरण पृष्ठ परिचय

धरती के सर्वाधिक शीतल क्षेत्र

दिसंबर, 2021 व जनवरी, 2022 के पर्व-त्योहार

गुरुवार	09 दिसंबर	सूर्य पष्ठी	बुधवार	12 जनवरी	स्वामी विवेकानंद जयंती
मंगलवार	14 दिसंबर	मोक्षदा एकादशी/गीता जयंती	गुरुवार	13 जनवरी	पुत्रदा एकादशी
शनिवार	18 दिसंबर	दत्तात्रेय जयंती/पूर्णिमा व्रत	शुक्रवार	14 जनवरी	मकर संक्रांति
शनिवार	25 दिसंबर	क्रिसमस	शुक्रवार	21 जनवरी	संकष्ट चतुर्थी
गुरुवार	30 दिसंबर	सफला एकादशी	रविवार	23 जनवरी	नेताजी जयंती
शनिवार	08 जनवरी	सूर्य पष्ठी	बुधवार	26 जनवरी	गणतंत्र दिवस
रविवार	09 जनवरी	गुरु गोविंद सिंह जयंती	शुक्रवार	28 जनवरी	षट्तिला एकादशी 'स्मा.'

★ **यह पत्रिका आप स्वयं पढ़ें तथा औरों को पढ़ाएँ। कुछ समय के बाद किसी अन्य पात्र को दे दें, ताकि ज्ञान का आलोक जन-जन तक फैलता रहे।** — *संपादक*

विशिष्ट सामयिक चिंतन

मानवीय-उत्कर्ष-वर्तमान-समय का सबसे-महत्त्वपूर्ण-दर्शन

कन्फ्यूशियस के जीवन की एक कथा आती है। उनके निकटवर्ती शिष्यों ने एक बार उनसे प्रार्थना की कि आपका जीवन इतने विलक्षण अनुभवों से सिक्त रहा है, आप अपने जीवन की स्मृतियों को एक आत्मकथा के रूप में क्यों नहीं लिखते? कन्फ्यूशियस प्रख्यात दार्शनिक थे। उन्होंने अनुभव किया कि उनके शिष्य सही कह रहे हैं। उनके जीवन के अनुभवों को अन्य लोगों के लिए लिखने की आवश्यकता है, ताकि वे भी उनसे प्रेरणा ले सकें।

अगले ही दिन से कन्फ्यूशियस अपनी आत्मकथा को लिखने के लिए बैठ गए। कई दिनों तक वे लिखने में लगे रहे। शिष्यों की उत्सुकता उनके लेखन की गति के साथ और बढ़ रही थी। एक दिन एक बड़ा-सा कागजों का पुलिंदा कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्यों को थमाया और उनसे बोले—"मेरे जीवन के सबसे कीमती अनुभव इसमें लिखे हुए हैं।" स्वाभाविक था कि शिष्य उसे तुरंत पढ़ना चाहते थे।

उन्होंने उन कागजों को पलटना प्रारंभ किया, पर उनके आश्चर्य का तब ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि लिखे गए सारे कागज पूरी तरह से खाली थे, कोरे थे। उन्हें लगा कि कन्फ्यूशियस ने उनके साथ किसी तरह का मजाक किया है। पन्नों को पलटते हुए जब वे अंतिम पन्ने पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ लिखा हुआ था कि मेरे जीवन के सबसे कीमती अनुभवों को न तो बोल पाना संभव है, न लिख पाना संभव है और न उन्हें बता पाना संभव है। उन्हें तो बस, अनुभव ही कर पाना संभव है।

कुछ वैसा ही अनुभव हमें तब होता है, जब हम परमपूज्य गुरुदेव का परिचय देने का प्रयत्न करते हैं; क्योंकि उनके व्यक्तित्व को भी न तो सम्यक रूप से बोल पाना संभव है, न सम्यक रूप से लिख पाना संभव है, न उसे सम्यक रूप से पढ़ पाना संभव है; उनको तो बस, अनुभव कर पाना संभव है। जैसे अनंत आकाश को बस, अनुभव ही किया जा सकता है; प्रकाशित सूर्य को बस अनुभव किया जा सकता है—वैसे ही पूज्य गुरुदेव को, उनके व्यक्तित्व को, उनके कृतित्व को बस, सही से अनुभव ही किया जा सकता है। उनके विराट स्वरूप को शब्दों की सीमा में बाँध पाना संभव नहीं है। सारांश में कहें तो वे उन महामानवों में से एक हैं, जिनके अवतरण के लिए धरती लालायित रहती है, जिनके दर्शन के लिए सृष्टि संकल्पित रहती है और जिनके संरक्षण के लिए देवशक्तियाँ प्रतीक्षित रहती हैं।

परमपूज्य गुरुदेव के जीवन के दृश्य-अदृश्य, लौकिक एवं अलौकिक ऐसे तो अनेकों पहलू हैं। उनके व्यक्तित्व के भी अनेकों पक्ष हैं—एक चिंतक के रूप में; एक दार्शनिक के रूप में; एक लेखक के रूप में; एक सुधारक के रूप में; एक तपस्वी के रूप में; एक साधक के रूप में; एक लेखक के रूप में; एक वक्ता के रूप और एक युगद्रष्टा के रूप में। वे मात्र एक ऋषि ही नहीं थे, बल्कि एक ऐसे ऋषि थे, जो युगों-युगों में कभी एक बार आकर इस धरती को धन्य करते हैं। दृश्य जगत् में ही उनके द्वारा की गई साधनाएँ उच्चस्तरीय हैं। चाहे वो गायत्री के 24 महापुरश्चरण हों या सूक्ष्मीकरण की साधना हो, हिमालय का एकांतवास हो या चांद्रायण व्रतों की शृंखलाबद्ध तपस्या हो; उनके समीप बैठने मात्र से ऊर्जा का एक ऐसा दिव्य संचार मनोमस्तिष्क में होता था, जिस विषय पर कितना भी प्रयत्न करें—बोल पाना व लिख पाना संभव ही नहीं है।

इसी क्रम में परमपूज्य गुरुदेव का दार्शनिक चिंतन आता है, जिसका विस्तार इस पृथ्वी पर उपलब्ध समस्त जलराशि से भी कई गुना ज्यादा विस्तृत एवं व्यापक है। चाहे वो वैज्ञानिक अध्यात्मवाद का चिंतन हो अथवा आध्यात्मिक मानवतावाद या आध्यात्मिक साम्यवाद का चिंतन—परमपूज्य गुरुदेव ने सदैव ही एक अत्यंत व्यापक व विशाल दृष्टि को ध्यान में रखते हुए एक गंभीर दार्शनिक चिंतन-दृष्टि को प्रस्तुत किया है। मनुष्य के एकाकी एवं सामूहिक उत्कर्ष के उद्देश्य को परिपूर्ण करने के लिए, मनुष्य में देवत्व के उदय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक आध्यात्मिक समाज के निर्माण का संकल्प भी एक ऐसा ही महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिंतन है।

मानवीय विकासक्रम की यात्रा को यदि ध्यान से देखा जाए तो यह अनुभव किया जा सकता है कि मनुष्य ने पहले तो शारीरिक विकास को लक्ष्य बनाया। यह ही कारण था

कि एक समय शौर्य, पराक्रम, शारीरिक सौष्ठव, बल, वीरता—ये ही मानवीय जीवन के प्रमुख लक्ष्य माने जाते थे। भारतीय राजाओं की गौरव-गाथाओं से लेकर ग्रीकों-रोमन शासकों के वे कहानी-किस्से जिनमें उनके सिंहों-व्याघ्रों से लड़ने की बातें कही गई हैं—इसी भाव को लक्ष्य में रख कर लिपिबद्ध की गईं। इसके बाद मानसिक संकल्पना व भावना का उदय हुआ। इस विकासोपलब्धि का परिणाम यह रहा कि गंभीर साहित्यिक रचनाएँ, टीकाएँ, ग्रंथ, मीमांसाएँ, दर्शन इत्यादि स्वरूप व आकार ले सके।

मानवीय विकास की यह यात्रा फिर बौद्धिक वर्चस्व के सोपान पर पहुँची, जब पुरानी मान्यताओं के टूटने का क्रम चला और वैज्ञानिक आविष्कारों की गूँज से धरती तो क्या अंतरिक्ष भी अनुगुंजित होने लगा। दार्शनिक दृष्टि से प्रश्न उठता है कि बौद्धिक वर्चस्व के बाद क्या? ऐसा पूछे जाने के पीछे कारण भी स्पष्ट हैं। बौद्धिक विकास से उपजे दुष्परिणामों से कौन अपरिचित है? पर्यावरण प्रदूषण से लेकर वातावरण की विकृति, विकिरण व संक्रमण से लेकर संवेदनहीनता—ये सब मिलकर विनाश की एक ऐसी परिस्थिति को जन्म दे रहे हैं कि आज का इनसान बर्बर पशुओं से भी ज्यादा खतरनाक हो गया है। अभाव, अस्थिरता, अशांति आज के मानवीय समाज का पर्याय बन चुके हैं।

परमपूज्य गुरुदेव ने इस संदर्भ में लिखा भी कि संकट की सामान्य परिस्थितियों से तो मनुष्य स्वयं ही निपट लेता है, पर जब असामान्य स्वर की संकटग्रस्त विपन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं तो स्रष्टा को स्वयं ही सक्रिय होना पड़ता है। वैसे भी सर्वसामान्य के लिए उत्थान के साधन जुटाना कोई आसान कार्य नहीं है; फिर पतन के गर्त में द्रुत गति से गिरने वाले जनमानस को उलट देना तो और भी कठिन है। इस कठिन कार्य को स्रष्टा ने समय-समय पर स्वयं संपन्न किया है, जिसे अवतार-प्रक्रिया कहा गया है। आज की इस विषम वेला में इस अवतार-प्रक्रिया को प्रस्तुत होते हुए कोई भी प्रज्ञावान प्रत्यक्ष देख सकता है।

युग निर्माण आंदोलन को अपने समय की अवतार चेतना के क्रियाकलापों का मूर्तरूप ही कह सकते हैं, जिसका उद्देश्य उसी आध्यात्मिक समाज की स्थापना करना है, जिसका चिंतन-दर्शन परमपूज्य गुरुदेव ने प्रदान किया। यही प्राण-प्रवाह युग निर्माण के क्रियाकलापों में प्रवाहित होने के कारण परमपूज्य गुरुदेव ने इसे अवतार- प्रक्रिया की संज्ञा दी। इस आंदोलन का लक्ष्य एक-दो व्यक्तियों या किसी धर्म, संप्रदाय, वर्ग विशेष में परिवर्तन लाना मात्र नहीं, वरन समूचे मानव समाज को बदलना है। पूज्य गुरुदेव ने इस समाज के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा भी कि इस प्रक्रिया के घटने पर मनुष्य की आकृति तो वैसी ही रहेगी, जैसी कि अब है, पर अगली शताब्दी में उसकी प्रकृति असाधारण रूप से बदल जाएगी।

इसी मानवीय प्रकृति के रूपांतरण के पथ को मानवीय उत्कर्ष का पथ कहकर पुकारा जा सकता है। ध्यान से देखें तो मानवीय जीवन वास्तव में उत्कर्ष का ही पर्याय है। मानवीय चिंतन में दूसरों से परे जाने की क्षमता, सामान्य से कुछ अधिक कर गुजरने की जो क्षमता विद्यमान है, वही क्षमता मानवीय उत्कर्ष के रूप में परिलक्षित होती है। परमपूज्य गुरुदेव का यह चिंतन ही आध्यात्मिक समाज की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार करता है और यह एक सर्वोपरि आवश्यकता कही जा सकती है कि मानवीय उत्कर्ष से संबंधित समस्त विधाओं पर अब गंभीर शोध-अध्ययन किए जाएँ। ❑

जो लिप्साओं की हवस बुझाने के लिए संतों के कष्टसाध्य तप की जेब काटने को फिरा करते हैं, उन्हें न तो भक्त कहा जा सकता है और न शिष्य। मात्र जीभ हिला देने भर से तो कोई आशीर्वाद फलित होता नहीं, उसके साथ तप का भी एक बड़ा अंश देना पड़ता है। किसी संत का तप लेकर अपना विलास-वैभव बढ़ाना, अध्यात्म-तत्त्वज्ञान से कोसों दूर की बात है। इसमें तो तपना पड़ता है। तप से ही प्रसुप्त शक्तियों को जगाते हुए मनुष्य महान बनता है।

—परमपूज्य गुरुदेव

जीवन-में-साधना-का-महत्त्व

साधना को परम पुरुषार्थ कहा गया है, क्योंकि यह जीवन-पहेली की समाधान कुंजी है और इसके संग जीवन परिष्कार के साथ मिलने वाली फलश्रुति के समक्ष इस संसार की बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि भी छोटी पड़ती है। सांसारिक उपलब्धियों को पाने के लिए कितने ही पुरुषार्थ क्यों न किए जाएँ व कितनी ही बड़ी सफलताएँ क्यों न प्राप्त की जाएँ, वे व्यक्ति को पूरी तरह से संतुष्ट नहीं कर पातीं; क्योंकि इनका स्वरूप नश्वर होता है, अस्थायी होता है; जबकि साधना के साथ प्राप्त आत्मिक उपलब्धियाँ स्थायी होती हैं, टिकाऊ होती हैं और ये सांसारिक उपलब्धियों एवं सुख-भोगों को भी एक सार्थक स्वरूप प्रदान करती हैं।

प्रश्न उठता है कि साधना की आवश्यकता क्यों? क्या बिना साधना के जीवन नहीं जिया जा सकता? तो इसका कारण मन की प्रकृति है, संसार का मायावी स्वरूप है, जिसके कारण व्यक्ति सतत बाहर विषय-भोगों में संलिप्त रहना चाहता है। संसार का गुरुत्व सदा उसे नीचे गिरने के लिए प्रेरित करता रहता है। इसके साथ जन्म-जन्मांतरों के अभ्यास एवं आदतें व्यक्ति को जीवन के अंतहीन कुचक्र में उलझाए रहती हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अहंकार जैसे षड्रिपु पग-पग पर व्यक्ति को सांसारिक जंजाल में उलझाए रहते हैं।

ऐसे में यदि साधना का अवलंबन न लिया गया तो इस धरा पर जन्म ले रहे हर व्यक्ति का जीवन एक ढर्रे पर लुढ़कना सुनिश्चित है। तब समाज में निर्वाह लायक कुछ नीति-नियमों का पालन करने तक ही जीवन की इतिश्री समझी जाएगी। आश्चर्य नहीं कि इसी आधार पर समाज में धर्म एवं नैतिकता के नाम पर कितनी सारी कुरीतियों को व्यक्ति सहर्ष गले लगाए फिरता है, जो मानवीय चेतना के उन्मुक्त विकास में अवरोध बनकर सामाजिक पतन की परिस्थितियाँ उत्पन्न किए रहती हैं।

ऐसे में बिगड़ैल मन, दूषित प्राण एवं कुसंस्कारों से जकड़े चित्त को लिए व्यक्ति किसी भी तरह से जीवन की गाड़ी धकेलता रहता है, जीवन में बाहर उपलब्धियों के अंबार, धन-समृद्धि एवं वैभव-विलास बटोरता रहता है, लेकिन इनके बावजूद आंतरिक रूप से वह विपन्न अवस्था में ही रहता है और उसके जीवन में कुछ सार्थक एवं जीवंत दिखाई नहीं पड़ता, जिस पर संतोष किया जा सके।

ऐसे में व्यक्ति का मानवीय गरिमा से गिरना स्वाभाविक है, एक प्राकृतिक घटना है और यह पशुओं की अपेक्षा मानव में और अधिक सहज एवं खतरनाक ढंग से घटित होती है; क्योंकि उसमें बुद्धि का अतिरिक्त तत्त्व भी विद्यमान है, जो अपने शातिरपन के कारण उसे और घातक बना देता है। पशु तो एक सीमित दायरे में ही क्षति पहुँचाने में सक्षम होते हैं, लेकिन मनुष्य तो गिरने पर असुर, पिशाच एवं दैत्य के स्तर पर गिरकर स्वयं की दिव्य संभावनाओं से स्खलित होने के साथ समाज एवं परिवेश में भी दु:ख, अशांति एवं आतंक का वातावरण खड़ा करते हैं।

इस स्थिति से उबरने एवं इस अवस्था से ऊपर उठने की शक्ति-सामर्थ्य केवल जीवन-साधना ही प्रदान करती है। दुर्दांत दैत्यों, अपराधियों से लेकर वासना में लिप्त पतितों का उद्धार इसी आधार पर संभव हुआ है। इतिहास के पन्ने इसकी गवाही देते हैं। हालाँकि इनमें किसी समर्थ की कृपा का महत्त्व सदा रहा है, लेकिन अंतत: वैयक्तिक- साधनात्मक पुरुषार्थ के बल पर ही वे अपने जीवन का कायाकल्प एवं उद्धार करने में सक्षम हुए तथा एक सार्थक एवं प्रेरक जीवन जी सके।

बिगड़े मन को ठीक करते हुए, विकृत प्राण को शुद्ध करते हुए, इन्हें ऊर्ध्वमुखी गति देना कोई सरल-सहज कार्य नहीं, इसके लिए अधिक सजग-सचेष्ट रहने एवं अतिरिक्त पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है, जिसे जीवन-साधना कहा जाता है। इसमें अपने ही मन की चंचलता एवं स्वार्थ-अहंकार की मायावी कुचालों को समझते हुए और गहन स्तर पर स्वयं का परिष्कार करते हुए, अपनी क्षुद्रता को परिमार्जित करते हुए अस्तित्व को व्यापक आयाम दिया जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन में अध्यात्म के वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक प्रयोगों के आधार पर जीवन-साधना के सरल एवं प्रभावी सूत्रों को दिया है, जो प्रातः आत्मबोध से शुरू होकर रात को तत्त्वबोध तक व्यक्ति का मार्गदर्शन करते हैं। साथ ही उपासना-साधना एवं आराधना के अंतर्गत संयम, स्वाध्याय, सेवा और तप के व्रत-बंधनों में स्वयं को बाँधते हुए, जीवन को ऊर्ध्वगामी दिशा देते हैं।

संयम से ऊर्जा का संरक्षण होता है, स्वाध्याय अपने अस्तित्व की श्रेष्ठ संभावनाओं के साथ हठीले कुसंस्कारों एवं विकृत दृष्टिकोण से परिचय करवाता है और तप इनका परिशोधन करते हुए चित्त-शुद्धि की दुर्द्धर्ष प्रक्रिया को संपन्न करता है, जिससे व्यक्तित्व को मनचाहे रूप में ढाला जा सके। इसके लिए युद्धस्तर पर कार्य करना पड़ता है। इनके विरुद्ध एक तरह का धर्मयुद्ध छेड़ना पड़ता है। इस तरह साधक, जीवन के रणक्षेत्र में अर्जुन बनकर आंतरिक महाभारत में प्रवृत्त होता है। भगवान श्रीकृष्ण के रूप में सद्गुरु को जीवनरथ का सारथी बनाते हुए साधना-समर का साक्षी बनता है और जीवन को एक सार्थक निष्कर्ष की ओर ले जाता है।

निश्चित रूप से इसके लिए दैनिक जीवन में अपने लिए समय देना पड़ता है, जीवन की प्राथमिकताओं को स्पष्ट करना पड़ता है। तप की आँच में जीवन की गलाई-ढलाई करनी पड़ती है। स्वयं को गढ़ने की इस प्रक्रिया को विश्व का सबसे कठिन कार्य माना गया है, लेकिन यदि इसमें जुटा जाए तो फिर इससे अधिक रोमांचक कुछ और कार्य भी नहीं। इसका शुभारंभ प्रायः एक जिज्ञासु एवं अभीप्सु के रूप में होता है, लेकिन अंततः एक शिष्य-साधक बनकर इसको अंजाम दिया जाता है।

इसके लिए पूरे जीवन को होश में जीना पड़ता है। प्रत्येक दिन को जीवन की इकाई मानते हुए हर पल को पूर्णता में जीना होता है। इसके बाद ही फिर रात को चैन की नींद और विश्रांति सुनिश्चित हो पाती है। दैनिक आधार पर किया गया यह साधनात्मक पुरुषार्थ अपने सम्मिलित रूप में जीवन के अंतिम पलों में चिरविश्रांति के साथ महायात्रा के अगले पड़ाव की गरिमामयी पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह सब साधनात्मक सजगता एवं पुरुषार्थ के आधार पर ही संभव होता है।

इस तरह जीवनपर्यंत साधना के आधार पर ही व्यक्ति का आत्यांतिक उत्कर्ष एवं समग्र सफलता सुनिश्चित होते हैं। शांति-सुकून से भरा जीवनयापन इसी आधार पर शक्य होता है और जीवनयात्रा का संतोषपूर्ण अवसान संभव होता है। इस तरह साधना लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सँवारने-सुधारने का एक सुनिश्चित विज्ञान-विधान है, जिसे हम जितना शीघ्र जीवन का अंग बना लें, हितकर रहता है। ❑

अपने एक शिष्य की आस्था की परीक्षा लेते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने उससे पूछा—"अच्छा, तुम्हारा विश्वास 'साकार' पर है या 'निराकार' पर?" इस प्रश्न पर कुछ विचार कर उसने उत्तर दिया—"महाराज! निराकार मुझे अधिक पसंद है।" यह सुन स्वामी रामकृष्ण परमहंस प्रसन्न होकर उसके इस भाव को आश्वस्त करते कहने लगे—"अच्छी बात है। किसी एक पर विश्वास रखने से काम हो जाएगा। निराकार पर विश्वास करते हो, अच्छा है, पर यह न कहना कि यही सत्य है और सब झूठ। यह समझना कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है। जिस पर तुम्हारा विश्वास हो, उसी को पकड़े रहो।" गुरुवाक्य को सुनकर शिष्य निश्चिंत हो अपनी साधना को और अधिक प्रखर बनाने में जुट गया।

सुकन्या का पतिव्रत धर्म

सदाबहार वन के इर्द-गिर्द मँडराती हवा वृक्षों को झूमने पर मजबूर कर रही थी। लताएँ आगे बढ़ने को मचलती, पेड़ों से आलिंगन करती ऊँचाई की ओर जा रही थीं। वर्षा ऋतु के बीत जाने पर भी वन का वातावरण नम था। चौड़े पत्तों में नाचती नमी की बूँदें अठखेलियाँ कर रही थीं। बड़ी संख्या में उपस्थित वृक्षों की सघनता इतनी अधिक थी कि उस परिक्षेत्र की भूमि तक सूर्य का न्यूनतम प्रकाश भी कम ही पहुँच पाता था। अनेकानेक पशु-पक्षियों और पौधों की विभिन्न प्रजातियों की जीवंत उपस्थिति से सराबोर यह वन अत्यंत मनोरम प्रतीत हो रहा था। तप हेतु वन की अनुकूल स्थिति को भाँपकर महर्षि भृगु के परम तेजस्वी पुत्र ऋषि च्यवन उस वन में तप करने बैठे।

तप करते-करते उन्हें हजारों वर्ष व्यतीत हो गए। उनके शरीर में दीमक-मिट्टी चढ़ गई। लता-पत्तों ने उनके शरीर को ढक लिया। वर्षों तक तप करते और समाधि लगाए बैठे ऋषि च्यवन की आँखें चमक उठी थीं। उन्हीं दिनों राजा शर्याति अपनी चार हजार रानियों और एकमात्र रूपवती पुत्री सुकन्या के साथ आखेट एवं विहार के लिए उस वन में आकर ठहरे। सुकन्या अपनी सहेलियों के साथ घूमती हुई, दीमक-मिट्टी एवं लता-पत्तों से ढके हुए तप करते ऋषि च्यवन के निकट पहुँच गई। कुछ ही दूरी पर स्थित दीमक-मिट्टी के टीले में उसे दो गोल-गोल छिद्र दिखाई दिए, जिनमें भीतर कुछ चमकती हुई वस्तु छिपी मालूम पड़ी। वास्तव में वे ऋषि च्यवन की आँखें थीं।

राजकुमारी सुकन्या ने उन चमकदार आँखों को बहुमूल्य रत्न समझा और कुतूहलवश उन्हें काँटों से कुरेदकर बाहर निकालना चाहा। काँटों के गड़ते ही उन छिद्रों से रुधिर बहने लगा। यह दृश्य देखकर राजकुमारी सुकन्या व उसकी सहेलियाँ भयभीत हो उठीं। किंकर्त्तव्यविमूढ़ सुकन्या अपनी सहेलियों समेत चुपचाप अपने शिविर को लौट आई। कुछ समय वन में बिताने के उपरांत वे सभी राजधानी लौट आए। समय बीतने के साथ ही कभी-कभार सुकन्या को वह दृश्य याद हो आता और वह किसी चिंता में डूब जाती। एक रोज राजा शर्याति ने सुकन्या को उसी अवस्था में पाया तो उससे उसकी चिंता का कारण जानना चाहा।

बड़े संकोच के साथ सुकन्या ने पिता को बीती सारी घटना कह सुनाई। किसी बड़ी अनहोनी के घट जाने की आशंका लिए शर्याति तत्काल ही घटनास्थल पर जा पहुँचे। घटनास्थल पर मिट्टी के ढेर के सिवा कुछ न मिला तो वे कुछ दूरी पर स्थित ऋषि च्यवन के आश्रम में पहुँचे। पुत्री सुकन्या की नादानी से घटी इस दुर्घटना का उन्हें वहाँ पता चला तो वे ऋषि च्यवन से क्षमा-याचना करने लगे। ऋषि च्यवन ने सुकन्या से अज्ञानवश हुई उस भूल के लिए उसे क्षमा करते हुए शर्याति को भी निश्चित रहने को कहा। अपनी नासमझी के फलस्वरूप ऋषि च्यवन की हुई ऐसी दुर्दशा को देखकर स्वयं राजकुमारी सुकन्या भी लज्जित थी। उनकी ऐसी दशा ने उसे भीतर से झकझोर कर रख दिया था।

कुछ सोच-विचारकर शर्याति ने ऋषि च्यवन के समक्ष राजकुमारी सुकन्या का विवाह-प्रस्ताव रखते हुए कहा—"यह आपकी आँख बनकर आपका आजीवन सहयोग करेगी।" यह सुनकर पहले-पहल तो ऋषि च्यवन ने मना किया, किंतु शर्याति के अत्यधिक अनुरोध को उन्होंने स्वीकार कर लिया। पिता की आज्ञा को सुकन्या ने भी सहर्ष स्वीकार कर ऋषि च्यवन के साथ विधिवत् विवाह कर लिया। पहले-पहल तो उसने इसे प्रायश्चित मानकर ऋषि च्यवन का गृहस्थी में साथ दिया, परंतु बाद में वह बंधन भी कर्त्तव्य में बदल गया। पतिव्रता सुकन्या को पति ऋषि च्यवन की सेवा करते अनेक वर्ष बीत गए। उनका वह संबंध इतना प्रतिष्ठित हुआ कि आयुर्वेद के आदि आचार्य अश्विनीकुमार उनकी मदद हेतु एक दिन उनके आश्रम जा पहुँचे।

ऋषि च्यवन एवं सुकन्या दोनों ने मिलकर उनका यथोचित आदर-सत्कार एवं पूजन किया। आतिथ्य से प्रसन्न हो अश्विनीकुमार सुकन्या से बोले—"कल्याणी! हम देवताओं के वैद्य हैं। तुम्हारी सेवा से अति प्रसन्न होकर हम तुम्हारे पति की आँखों में पुनः दीप्ति प्रदान कर उन्हें यौवन भी प्रदान करना

चाहते हैं। तुमसे निवेदन है कि कृपया अपने पति को हमारे साथ हमारे द्वारा विनिर्मित दिव्य सरोवर में स्नान के लिए कहो।'' यह सुनकर सुकन्या के आनंद का ठिकाना न रहा, किंतु वहाँ उपस्थित पति परमेश्वर ऋषि च्यवन के निकट खड़ी अपनी शिष्टता को कायम रखकर सुकन्या मौन अवस्था में ही बनी रही।

अश्विनीकुमारों के इस आग्रह को सहर्ष स्वीकारते हुए ऋषि च्यवन अनुगृहीत हो स्वयं ही कहने लगे—''हे देव! आप समर्थ हैं। आपके इस उपकार के लिए हम आपका कोटि-कोटि धन्यवाद ज्ञापित करते हैं, परंतु ऋषि होने के नाते आपके इस उपकार के बदले में हमारी जो कुछ सामर्थ्य है, उसी अनुसार आपको कुछ देना भी चाहते हैं।''

अपनी बात आगे बढ़ाते हुए ऋषि च्यवन ने कहा—''अभी तक आपको यज्ञ में भाग नहीं मिलता है, किंतु अब से हम आपको यज्ञ में भाग दिलाएँगे।'' ऋषि च्यवन के इस वचन को अश्विनीकुमारों ने सहर्ष स्वीकार किया व अपने कहे अनुसार वे उन्हें साथ लेकर स्वनिर्मित दिव्य सरोवर में ले गए व उन्हें विधिवत् स्नान करवाया।

उस विलक्षण प्रयोग की साक्षी बनने स्वयं सुकन्या भी वहाँ जा पहुँची और बड़ी उत्सुकता से अपने स्वामी के नए रूप के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगी। सरोवर से डुबकी लगाकर बाहर निकलते ही ऋषि च्यवन की आँखें ठीक हो गईं और वे युवक बन गए। उनका रूप-रंग, आकृति आदि बिलकुल अश्विनीकुमारों जैसे हो गए।

अब बारी थी सुकन्या के पतिव्रत धर्म के परीक्षण की। जिस हेतु अश्विनीकुमारों ने सुकन्या से कहा—''देवी! तुम हममें से अपने पति को पहचानकर अपने आश्रम ले जाओ।'' अपने पतिव्रत धर्म के निष्ठापूर्ण पालन से विकसित हुए दिव्यचक्षुओं से उसने अपने पति को पहचान लिया व आगे बढ़कर उनका हाथ थाम लिया।

सुकन्या की इस क्षमता को देखकर अश्विनीकुमार बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने न केवल सुकन्या के पति के जरा-जीर्ण शरीर को स्वस्थ और बलिष्ठ बना दिया था, वरन बाद में ऋषि च्यवन को वह विद्या भी सिखाई, जिससे वृद्ध शरीर को पुनः से यौवन प्रदान किया जा सकता है। इसी को आधार बनाकर च्यवनप्राश का निर्माण हुआ। राजा शर्याति को ऋषि च्यवन की आँखें ठीक होने व उन्हें नया यौवन प्राप्त होने का समाचार मिला तो वे भी अतीव प्रसन्न हुए और उन दोनों से मिलने उनके आश्रम जा पहुँचे व उन्हें अपना स्नेहाशीष प्रदान किया। सभी ने सुकन्या के उपकारी चरित्र को सराहा व उसे अनंत शुभकामनाएँ दीं। ❑

महात्मा रामानुजाचार्य अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण नदी स्नान करने जाते हुए लोगों का सहारा लेकर जाया करते थे। जाते समय वे ब्राह्मण के कंधे का सहारा लेते और आते समय अन्य जातियों के व्यक्तियों के कंधे पर हाथ रखकर आते। रामानुजाचार्य के इस विचित्र व्यवहार को देखकर लोगों ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—''भगवन्! ऐसा आप क्यों करते हैं?''

रामानुजाचार्य मुस्कराए और कहा—''सज्जनो! स्नान से मात्र मेरी देह शुद्ध होती है। मन का मैल तो अहंकार है। जब तक मनुष्य में अहंकार शेष है, तब तक उसे मन का मलिन ही कहा जाता है। मैं ऐसा करके अपने मन की मलिनता को स्वच्छ करता हूँ। मैं किसी से बड़ा नहीं, सब मुझसे ही बड़े हैं। इसी भावना को स्थिर करने के लिए मैं सभी का सहारा लिया करता हूँ।'' स्वामी रामानुजाचार्य के इस कथन ने पूछने वाले को एक नई जीवन-दृष्टि प्रदान की।

पर्व विशेष (गीता जयंती पर)

अध्यात्म की अनूठी थाती—गीता

गीता अध्यात्म की अनूठी थाती है। इसमें भारतीय दर्शन के ब्रह्मप्राप्ति तथा कर्म के आदर्शों का व्यावहारिक पक्ष सम्यक और बोधगम्य रूप में समाहित है। भारत ही नहीं, अपितु सारे जगत् के लिए इसमें अमर संदेश सन्निहित है। गीता में समन्वयात्मक मार्गों का निर्धारण किया गया है। यह मोक्षप्राप्ति के किसी मार्ग का तिरस्कार न करके प्रत्येक पथ से गीता के कर्मयोग के मार्ग को प्रतिष्ठित करती है। गीता का मूल प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है। इसमें समत्व का ही नाम योग बताया गया है।

योग: कर्मसु कौशलम्—अर्थात कर्मों में कुशलता को ही योग कहते हैं। अपने समग्र कार्यों, इच्छाओं और स्वयं को अहंकाररहित होकर परमेश्वर में मिलाना ही ज्ञानमार्ग का अनुसरण है। ज्ञान से एकनिष्ठ होना गीता का परम उद्देश्य है। गीताकार कहते हैं कि **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**—अर्थात ज्ञान से श्रेष्ठ पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है। भक्तों में ईश्वर को ज्ञानी भक्त सर्वाधिक प्रिय है।

गीता की प्रथम मान्यता है कि सभी कर्मों का त्याग असंभव है। थोड़ी देर के लिए भी कोई बिना कर्म किए नहीं रह सकता। बिना कर्म किए जीवन का संरक्षण असंभव है। निष्ठावान कर्मयोगी के लिए कृष्ण ने जो सर्वोच्च स्थान निर्धारित किया, उससे गीता के कर्मरत मार्ग की फलप्राप्ति का ज्ञान होता है। इसे कर्मनिष्ठा का मूलमंत्र कहा जाता है।

गीता उपनिषदों का सार होने के कारण ब्रह्म-विद्या है। ब्रह्मतत्त्व का जिस साधन से साक्षात्कार किया जाता है, उस योग की गीता में दृष्टि है। गीता प्रवृत्तिप्रधान और निवृत्तिप्रधान शास्त्र भी है। गीता के कर्मयोगानुसार मानव में जीव के अस्तित्व तक संकल्प के बिना कर्मरत होना चाहिए। इसके अलावा ईश्वर साक्षात्कार हेतु अन्य दूसरा श्रेष्ठ साधन नहीं है। यही गीता का सर्वांगीण और महान विचार है। कर्म-पथ पर अग्रसर होने वाले मनुष्य के मन से अपने-पराये की भावना मूलत: विनष्ट हो जाती है।

गीता में मोक्षप्राप्ति के लिए दो प्रकार से उपाय बताए गए हैं—प्रथम ज्ञान अथवा कर्म-संन्यास द्वारा और द्वितीय कर्मयोग या निष्काम कर्म द्वारा। इनमें द्वितीय अधिक श्रेष्ठ है। गीता में वर्णित है कि काम्य कर्म का अनुष्ठान करने मात्र से मोक्ष नहीं मिलता, वह निष्काम कर्म करने से प्राप्त होता है। यही निष्काम कर्म यज्ञ नाम से प्रसिद्ध है।

गीता का यही कर्मपथ अत्यंत सार्वभौम है। इससे उपदेष्टा भी मुक्त नहीं रहता, बल्कि जुड़ा रहता है। यह कर्माचरण स्वयं के लिए तो मोक्षदायक है ही; साथ ही दूसरों के लिए भी मंगलकारी है। इसके द्वारा लोक-संग्रह और लोक-कल्याण होता है। व्यक्ति का गुण ही उसका स्वभाव है। उसी के द्वारा मानव के कर्त्तव्य का निर्णय होता है। इसी स्वभाव या गुण के अनुसार गीता में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य निर्धारित है। मात्र मनुष्य ही नहीं, अपितु ईश्वर भी कर्म करते हैं। सब कुछ करते हुए भी ईश्वर किसी कर्म में आसक्ति नहीं रखता।

कर्म के लिए किया गया कर्म ही वास्तविक कर्म है। यह ही निष्काम कर्मयोग है। कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का गीता मंजुल समन्वय भी है। कर्म के साथ जुड़ी भक्ति-भावना साधक के जीवन को अधिक रसमय और रोचक बना देती है। परम पद वाले को अपने कर्मों के फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए। कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। बिना पराशक्ति के ज्ञान भी नहीं मिल पाता। अनासक्त भाव से कर्म किए बिना भक्ति की प्राप्ति भी नहीं होती। अत: तीनों का अत्यंत अभिन्न संबंध है।

गीता में तीन प्रकार के तत्त्वों का समावेश मिलता है—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। जगत् के सारे जड़ पदार्थ 'क्षर' हैं। यही अश्वत्थ, अधिभूत, क्षेत्र और अपरा प्रकृति नाम से भी प्रसिद्ध है। कारणों का, विकारों का और भूतों का यह मूल कारण है। आकाश आदि पाँच भौतिक परमाणु और पाँच तन्मात्राएँ विकार हैं। मन, अहंकार, बुद्धि पाँच ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ करण कहलाती हैं।

इनके अतिरिक्त इनमें उत्पन्न राग-द्वेष, सुख-दुःख, परमाणु का संघात, चेतना और धृति से क्षर हैं। इनमें से पृथ्वी, जल, तेज, आकाश, वायु, मनस्, बुद्धि और अहंकार— ये आठ भगवान की अपरा प्रकृति के रूप हैं। अक्षर तत्त्व को परा प्रकृति और क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं। यह अपरा प्रकृति से उच्च कोटि की है। यह ही जगत् को धारण करती है। केवल अविद्या के कारण यह तत्त्व भगवान से भिन्न दिखाई पड़ता है। गीता में माया ईश्वर की दैवी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। यह सदा ईश्वर के साथ रहती है। माया दृश्य जगत् की अधिष्ठात्री है। गीता का मौलिक चिंतन सर्वथा अनूठा है। यह मानव-मानव को जोड़ता है।

गीता कल्पतरु है, जिसकी शीतल छाया में आने से समग्र दैहिक, दैविक और भौतिक ताप मिट जाते हैं। सभी के लिए सर्वकालीन और सार्वदेशिक है गीता। इसमें सिद्ध हो जाने पर स्वयं में ही डूबे रहने की अपेक्षा लोकसंग्रह के लिए अनवरत कर्म करते रहने का उपदेश है। निष्काम कर्म करते-करते पूर्ण निष्कामता की भावना आ जाती है। संपूर्ण वैदिक और उपनिषद् तत्त्वों का मंथन करके गीता निष्कामता का नवनीत देती है, जिससे दिव्यदृष्टि और दिव्य जीवन प्राप्त होता है और अमृतत्व मिलता है।

गीता स्थितप्रज्ञ होने की स्थिति में लोकसंग्रह के लिए नियत कर्म करते रहना अधिक श्रेयस्कर बताती है। निष्काम कर्म करने के लिए शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता होती है, साथ ही परिष्कृत हृदय की भी। मानव जीवन में ज्ञान, भक्ति और कर्म इस प्रकार से जुड़े हैं कि उन्हें परस्पर दूर कर पाना कठिन होता है। यह जीवन को आध्यात्मिक गुणों का अजस्र स्रोत देती है।

आशावादी दर्शन से अनुप्राणित गीता के अनुसार मन का निग्रह करना बहुत सहज नहीं है। अभ्यास और वैराग्य से इस पर नियंत्रण संभव है। हृदयस्पर्शिनी दृष्टि और लोकदृष्टि की यह संवाहक है। यह साधक को उपदेश ही नहीं देती, वरन कठिनाइयों के प्रति सहानुभूति भी प्रकट करती है। वेदांत की तरह गीता माया को अविद्यास्वरूपा नहीं कहती। मानव मूल्यों से तादात्म्य करके जीवन को गतिमान करती है। श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है—''यदि कदाचित् असावधानीवश मैं कर्म का अनुसरण न करूँ तो हे अर्जुन! सब प्रकार के मनुष्य मेरे आचरण का अनुकरण करने लगेंगे और कर्मच्युत होने से मेरी गणना वर्णसंकरों में की जाएगी और मैं सारी प्रजा का विनाशक बन जाऊँगा।''

गीता लौकिक-पारलौकिक ज्ञानप्राप्ति की मार्गदर्शक है और यह जीवन के लिए संजीवनीप्रदायक है। गीता शाश्वत चिंतन की अमूल्य जीवनधारा मानवता की संवाहक है। ❑

फ्रेंच कवि लटीमर सादगीपसंद थे। शानोशौकत से उन्हें उतना लगाव नहीं था, फिर भी उनके मन में एक घोड़ागाड़ी खरीदने की चाहत थी। लटीमर साहब इस हेतु तिनका-तिनका जोड़ने लगे, अपना पेट काटकर रुपया जोड़ना प्रारंभ किया। दो वर्ष बाद उनके पास एक हजार फ्रेंक जुट गए। उन्होंने घोड़ागाड़ी खरीदने की सोची।

इसी बीच उनकी विधवा पड़ोसिन उनके पास आई और रोते-बिलखते उन्हें अपनी व्यथा सुनाने लगी। उसके चार छोटे बच्चे थे और वह पति की मृत्यु के पश्चात उनका जैसे-तैसे पालन कर रही थी। उसके घर पर साहूकार कब्जा करना चाहता था। वह रो रही थी कि अब चार बच्चों को लेकर कहाँ जाएगी? लटीमर साहब ने तुरंत ही अपने जमा किए हुए एक हजार फ्रेंक उस विधवा स्त्री को दे दिए। संवेदनशीलता ही मानवता की पहचान है।

बच्चों को समय भी दें और संस्कार भी

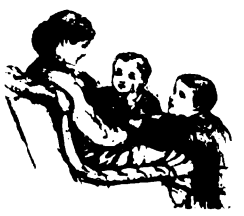

आज की प्रमुख समस्या है कि बच्चे बड़ों की बात नहीं मानते, उनका सम्मान नहीं करते। थोड़ा-सा गहराई से सोचने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसके लिए माता-पिता एवं अभिभावक भी कहीं जिम्मेदार हैं; क्योंकि उनके पास समय ही नहीं है कि वे बच्चों की बातों को सुनें, समझें व उनकी समस्याओं का सार्थक समाधान प्रस्तुत करें। साथ ही यदि व्यक्ति स्वयं ही अपने जीवन के प्रति सजग-सचेष्ट न हो, तो फिर बाल निर्माण की बात और कठिन हो जाती है।

इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि सबसे पहले बड़े लोग स्वयं अपने लिए समय निकालें। अपने जीवन को समग्र रूप में समझने व सँवारने का प्रयास करें, इसके परिष्कार एवं निर्माण पर ध्यान दें। फिर समझ आएगा कि जीवन का निर्माण कितनी सूक्ष्म एवं जटिल प्रक्रिया है, जिसे महज सैद्धांतिक नियमों एवं उपदेश-आदेश के आधार पर नहीं गढ़ा जा सकता। अपना व्यवहार, आचरण एवं जीवन ऐसा गढ़ना पड़ता है, जिससे बच्चे कुछ सीख सकें, प्रेरणा ले सकें।

बच्चों पर महज उपदेश काम नहीं करते। वे बड़ों का आचरण, व्यवहार भी देखते हैं और इसका जाने-अनजाने में अनुसरण करते हैं। यदि बड़े स्वयं ही नियम का पालन नहीं कर रहे हैं, परंतु बच्चों को ज्ञान-उपदेश दे रहे हैं, तो इसका प्रभाव संदिग्ध ही रहता है। भय या दबाववश बच्चे तात्कालिक रूप से इनका पालन कर भी लें, लेकिन इसका स्वस्थ एवं स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता।

बच्चों के निर्माण में उनके प्रति संवेदनशील रवैया रखना सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसी के आधार पर न्यूनतम विश्वास की वह पृष्ठभूमि तैयार होती है, जिससे बच्चे बड़ों की बातों के लिए ग्रहणशील हो सकें। जब व्यक्ति स्वयं के निर्माण के प्रति जागरूक एवं निष्ठावान होता है, तभी ऐसा व्यक्तित्व तैयार होता है, जिसके उपदेश सहज रूप से ग्रहण हो सकें, हृदयंगम हो सकें। इसके साथ मानव स्वभाव की वह समझ विकसित होती है कि बच्चों के कोमल मन को एक कुशल शिल्पी की भाँति समझा, सँभाला एवं गढ़ा जा सके।

बाल निर्माण के संदर्भ में कुछ अन्य व्यावहारिक समाधान सूत्रों का अनुसरण किया जा सकता है, जिसमें, सर्वप्रथम है कि बच्चों को समय दें—उनसे बातचीत करें। आज के समय में इसी सूत्र की सबसे अधिक अवहेलना हो रही है; क्योंकि माता-पिता एवं अभिभावक, इस कदर जीवन के गोरखधंधे में उलझे हुए हैं कि उनके पास बच्चों के लिए समय ही नहीं है। यदि समय निकालकर बच्चों के साथ बैठा जाए, उनकी बातों को सुना जाए व उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाए, तो उनके विकास के लिए अनुकूल वातावरण एवं समाधान सूत्रों की व्यवस्था भी बनाई जा सकती है।

यदि माता-पिता एवं अभिभावक पढ़े-लिखे हैं तो एक बार बच्चों की पुस्तकों को टटोलकर अवश्य देखें कि उनके पाठ्यक्रम में क्या है? यदि कुछ विषय अपनी रुचि के हों, तो उनको पढाया-समझाया जा सकता है। इसके साथ बच्चों की किन विषयों में रुचि है, उनमें कौन-सी संभावनाएँ व्यक्त होने के लिए कुलबुला रही हैं, इसकी जानकारी पाई जा सकती है, जिससे कि आगे चलकर उनके लिए उचित कैरियर का चयन किया जा सके। इस जानकारी के अभाव में, उचित मार्गदर्शन के अभाव में अधिकांश बच्चों को ढर्रे के पाठ्यक्रमों में भरती होते देखा जा सकता है, जिसका उनकी रुचि, योग्यता एवं स्वभाव से अधिक लेना-देना नहीं रहता। यह लापरवाही भावी जीवन की विफलता एवं असंतोष के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार रहती है।

आपसी बातचीत के अतिरिक्त बच्चों को अपने साथ दैनंदिन गतिविधियों में शामिल किया जा सकता है। उन्हें अपने साथ घर-आँगन की गतिविधियों का हिस्सा बनाया जा सकता है, खेत पर काम में ले जाया जा सकता है। अपने साथ कहीं नई जगह पर घूमने की व्यवस्था की जा सकती है। बच्चों के साथ किसी खेल में शामिल होकर उनके साथ कुछ यादगार पल बिताए जा सकते हैं।

इस तरह बच्चों के साथ बिताए पल बाल मन को भावनात्मक रूप से सशक्त करते हैं व उनको समझने में

सहायक भी होते हैं। साथ ही वे सहज रूप में उन बातों को खेल-खेल में सीख रहे होते हैं, जिनके लिए अन्यथा माता-पिता को डाँट-डपट करने से लेकर अवांछनीय तौर-तरीकों का सहारा लेना पड़ता है।

यहाँ बच्चों के साथ व्यवहार के संदर्भ में कुछ सावधानियाँ बरतने की भी आवश्यकता है। बच्चों को डाँटें नहीं, बल्कि उन्हें प्यार से समझाएँ। यदि उनके स्वभाव में कुछ बिगड़ी आदतें शामिल हो गई हैं, तो धैर्य के साथ इनका परिमार्जन करें। बच्चों को भरपूर सम्मान एवं प्यार दें। अन्यथा सुधार के लिए किए जा रहे प्रयासों के परिणाम उलट भी हो सकते हैं। बच्चे सुधरने के बजाय बिगड़ सकते हैं। निस्संदेह रूप में इसके लिए अपार धैर्य एवं गहरी समझ की आवश्यकता होती है।

कई अभिभावक बच्चों की एकदम उपेक्षा करते हैं, उन पर कोई ध्यान ही नहीं देते, जो उचित नहीं। बीच-बीच में बच्चों का हाल-चाल पूछते रहें, उनकी खोज-खबर लेते रहें, जिससे कि वे अपनी पढ़ाई-लिखाई एवं अन्य रचनात्मक गतिविधियों के प्रति सजग व सचेष्ट रह सकें, जो अन्यथा उपेक्षित रह सकते हैं।

साथ ही यह भी ध्यान रखें व इस ओर एक सजग दृष्टि रखें कि कहीं बच्चे गलत संगत में तो नहीं पड़ रहे या किसी बुरी लत का शिकार तो नहीं हो रहे। आजकल मोबाइल के साथ बच्चों की अत्यधिक आसक्ति एक चिंता का विषय है। इसके प्रति भी जागरूक रहें। बच्चों के असामान्य व्यवहार एवं आचरण के आधार पर इसका अनुमान लगाया जा सकता है और यदि वे ऐसी स्थिति में उलझ रहे हैं, तो इससे उबारने में उनकी सहायता करें।

यह एक जिम्मेदारी भरा एवं संवेदनशील कार्य है, जिस पर बच्चों का भविष्य टिका हुआ है। इसके अभाव में कितने सारे बच्चे गलत आदतों का शिकार होते देखे जा सकते हैं, गलत संगत में पड़ते हैं और जीवन की बरबादी की पटकथा लिख रहे होते हैं। अभिभावकों की ओर से बरती गई थोड़ी-सी सावधानी उन्हें इस दुर्घटना से बचा सकती है।

इस संदर्भ में 'एक आँख प्यार की और एक सुधार की' एक स्वर्णिम सूत्र रहता है। अत्यधिक लाड़-प्यार से बच्चे बिगड़ जाते हैं, इसी तरह अत्यधिक कड़ाई भी अवांछनीय प्रभाव डालती है। मध्य मार्ग का अनुसरण ही यहाँ उचित रहता है। यदि इन सूत्रों को पालन करते हैं, तो कोई कारण नहीं कि बच्चों का विकास सही दिशा में न हो। उन्हें वह आवश्यक भावनात्मक पोषण भी उपलब्ध होगा, जो उनके व्यक्तित्व की जड़ों का सिंचन करते हुए उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की ठोस पृष्ठभूमि को तैयार कर सके। ❑

जुलाई, 1955 की बात है। एक व्यस्त सड़क पर रोमुलो की कार का पहिया पंचर हो गया। रोमुलो सड़क पर ही पहिया बदलने लगे कि पीछे से आती हुई गाड़ी उनकी गाड़ी से टकरा गई और उनकी बाईं टाँग कुचलती निकल गई। उनकी टाँग काटनी पड़ी। उस समय रोमुलो 60 वर्ष के थे। उन्हें सैनिक अस्पताल में जलरोधक कृत्रिम टाँग लगा दी गई। उन्होंने इस नकली टाँग के उपयोग का ऐसा अभ्यास कर लिया कि कोई यह अंदाजा नहीं लगा सकता था कि उनकी टाँग नकली है। अस्पताल में चिकित्सा के दौरान उन्हें ज्ञात हुआ कि मैक्सिको में छह लाख ऐसे अपंग हैं, जिनकी चिकित्सा की कोई व्यवस्था नहीं है और न ही उन्हें कोई सरकारी सहायता मिलती है। रोमुलो ने संकल्प किया कि अब वे उन अपंगों की सेवा करेंगे। उन्होंने अपंगों की अंग चिकित्सा से लेकर पुनर्वास तक के लिए संस्था खोली। रोमुलो ने आजीवन अपंगों की सेवा की।

बड़े सौभाग्य से जलती है हृदय में प्रभु प्रेम की आग

हृदय में प्रभु प्रेम की आग लग गई है। प्रभु प्रेम की आग शांत करने को नहीं लगाई जाती है। यह आग तो ऐसी आग है, जिसमें जलकर राख हो जाने पर ही शांति उपलब्ध होती है। आग के बुझाने से नहीं, स्वयं के बुझने से ही शांति उपलब्ध होती है।

आग लग गई तो हम ऐसा सोचें कि हम सौभाग्यशाली हैं, हम धन्यभागी हैं। अब इसे शांत नहीं करना है। शांत ही करना था तो यह लगी ही क्यों? यह आग बुझने वाली आग नहीं, बुझाई जाए ऐसी आग नहीं है। यह आग तो सौभाग्य है, सद्भाग्य है; क्योंकि इसमें हमारा अहंकार जलता है।

सत्य यह है कि इसमें हम नहीं जलेंगे, हममें जो व्यर्थ कूड़ा-करकट है, वही जलेगा। यह तो ऐसी आग है, जिसमें हम सोने को डालते हैं, कूड़ा-कचरा जल जाता है और सोना निखरकर बाहर आता है। वह कुंदन हो जाता है।

किसी सूफी संत ने ठीक ही कहा है—जब प्रेम का दावा किया है, दावे आशिकी है तो हसरत करो निबाह, तो यह क्या कि इब्तदा ही में घबरा के रह गए, यह कैसी बात, यह कैसा प्रश्न? इतनी जल्दी घबरा जाओगे। अभी तो शुरू-शुरू है, अभी तो बहुत धुआँ उठ रहा है, तो लपटें पूरी पकड़ी कहाँ हैं? अभी तो वह घड़ी आएगी, जब धुआँ रह ही न जाएगा, लपट-ही-लपट होगी—निर्धूम लपट होगी।

इस मार्ग से गुजरने से पीड़ा भी होती है; क्योंकि जिसे हमने जाना था अब तक मैं हूँ, उसे बिखरते हुए देखकर पीड़ा होना स्वाभाविक है, जिस अहंकार की हमने सदा पूजा की थी, सजाया-सँवारा था, आज उसको खंडहर होते देखकर दिल जरा-जरा रोएगा। बीज भी रोता होगा, जब टूटता है, मगर उस बेचारे बीज को क्या पता कि टूटकर ही वृक्ष का जन्म होता है और बूँद भी रोती होगी, जब सागर में टपकती है, मगर उस बूँद को क्या पता कि सागर में गिरकर ही सागर होने का उपाय है।

हमें भी पता नहीं है, मगर हम बूँद से तो थोड़े ज्यादा सचेतन हैं और हम बीज से तो ज्यादा होशियार हैं। संत कहते हैं चुपचाप पी जाओ इस आग को, इसे कहते भी मत फिरना; क्योंकि कहीं इसे कहते फिरते में ही नया अहंकार पैदा न हो जाए कि हम भक्त हो गए कि हमारे भीतर प्रभु प्रेम की आग लगी हुई है। कहीं ऐसा न हो कि बढ़ा-चढ़ाकर कहने लगें इसे। आदमी भी बड़ा अजीब है, हर चीज को बढ़ा-चढ़ाकर कहने लगता है। यह इसकी फितरत है।

इस प्रभु प्रेम को तो भीतर ही सँभाला जाता है। यह तो अनमोल पूँजी है। यह तो हीरा है। किसी ने सही ही कहा है—हीरा पायो गाँठ गठियायो, वाको बार-बार क्यों खोले? यह आग नहीं है, यह तो हीरे की दमक है। इसे अपने प्राणों में छिपा लेना चाहिए। इसे किसी को बताने की जरूरत नहीं है। यह जितनी गहरी अपने भीतर रहेगी, उतनी ही जल्दी क्रांति घट जाएगी। पूछने का मन होगा, समझना चाहेंगे कि यह क्या हो रहा है। मगर कुछ चीजें ऐसी हैं जो समझने से नष्ट हो जाती हैं, कुछ चीजें हैं, जिनके रहस्यों का अनावरण उचित नहीं है। यदि हम किसी वैज्ञानिक से पूछें कि प्रभु प्रेम क्या है? कहेगा प्रेम कुछ भी नहीं है, शरीर में हॉर्मोन की कमी ज्यादा होने से प्रेम होता है, कुछ खास मामला नहीं है। एक इंजेक्शन हॉर्मोन का लगा देंगे, प्रेम खतम हो जाएगा।

कुछ ऐसी पहेलियाँ हैं, जिनका रहस्य बने रहना ही उचित है, उन्हीं रहस्यों से ही तो जीवन का गौरव और गरिमा है। किसी वैज्ञानिक से यह पूछा जाए कि यह जो खिला है कमल झील में, इसका सौंदर्य क्या है? वह कहेगा सौंदर्य वगैरह कुछ भी नहीं है, यह भ्रांति है, एक धारणा है।

हमें बचपन से सिखा दिया है तो सौंदर्य है। सौंदर्य कहाँ है वहाँ? वैज्ञानिक ले जाकर विज्ञान की प्रयोगशाला में काट-पीट करके कमल का सब निकालकर बता देगा, इतनी मिट्टी, इतना पानी, इतना खनिज, पर उसे सौंदर्य कहीं भी न मिलेगा।

एक बार अगर उसके सिद्धांत को मानने लगे तो फिर हमें भी संदेह होने लगेगा कि सौंदर्य है या नहीं? होता तो मिलना चाहिए था। यही तो अड़चन है विज्ञान की। आज नहीं कल शरीर की सारी व्यवस्था बदली जा सकती है,

सारा शरीर वैज्ञानिक ढंग से प्लास्टिक और सिंथेटिक चीजों से बनाया जा सकता है और यह एक तरह से सुविधापूर्ण हो सकता है।

परंतु ऐसे में आदमी मर जाएगा, उसकी आत्मा मर जाएगी। इस जीवन में कुछ है, जो विज्ञान की पकड़ में आ ही नहीं सकता और वह है हृदय से उठती प्रेम की ज्वाला। यह तर्क का विषय नहीं है, भावना का संगीत है। जब हृदय में भावनाओं का संगीत प्रस्फुटित होने लगता है तो प्रेम की धारा बहने लगती है। प्रेम तो अनुभव का विषय है, खोज का नहीं। ❑

वर्षों से सत्य के अन्वेषण में तप करते महात्मा गौतम को सुजाता ने एक अवसर पर खीर प्रदान की, जिसे ग्रहण कर गौतम ने परम संतोष का अनुभव किया। उस दिन उनकी जो समाधि लगी तो फिर सातवें दिन बुद्धत्व के शिखर पर जाकर टूटी। जब वे उठे तो उन्हें आत्मसाक्षात्कार हो चुका था। गौतम के सात दिन तक निरंतर एक ही आसन पर बैठे रहने की बात जब सुजाता को विदित हुई तो वह भी विस्मित हो निरंजना नदी के तट पर प्रसन्न मुख आसीन बुद्ध के दर्शनों के लिए गई।

वह उनके दर्शनों हेतु उपस्थित हुई ही थी कि तभी सामने से एक शव लिए जाते हुए कुछ व्यक्ति दिखाई दिए। अंतिम यात्रा का यह दृश्य देख बुद्ध मुस्कराने लगे। उनके निकट ही खड़ी सुजाता ने जब देखा कि बुद्ध ऐसा कुछ देख दुःख व्यक्त करने के स्थान पर मुस्करा रहे हैं तो बुद्ध के जीवन के पूर्वार्द्ध से भली भाँति परिचित सुजाता ने उनसे प्रश्न किया—"महात्मन्! पहले तो आप शव को देखकर दुःखी हो जाया करते थे, किंतु आज वह दुःख कहाँ चला गया?"

बुद्ध मुस्कराए और कहा—"सुजाता! सुख-दुःख मनुष्य की कल्पना मात्र है। कल तक जड़ वस्तुओं में आसक्ति होने के कारण यह भय था कि कहीं ये छूट न जाएँ और यह भय ही दुःख का कारण था; परंतु आज जब मैंने यह जान लिया कि जो जड़ है, उसका तो गुण ही परिवर्तनशील है और जिसके लिए दुःख करते हैं, वह न तो परिवर्तनशील है और न ही नाशवान। अब तुम ही बताओ, जो सनातन वस्तु को पा ले, उसे नाशवान वस्तुओं का क्या दुःख?" सुजाता ने नित्य-अनित्य का मर्म समझा व अनुगृहीत हो बुद्ध से विदा ली।

गुरु नानक देव का सच्चा सौदा

गुरु नानक देव 17 वर्ष के हो चले थे। उनके पिताजी ने बहुत सोच-विचारकर नानक को व्यापार के लिए 20 रुपये दिए। नानक देव पिता की आज्ञानुसार व्यापार के लिए घर से निकलने को तैयार हुए। घर से व्यापार के लिए बाहर जाते हुए नानक से उनके पिता ने कहा—"पुत्र इन 20 रुपयों से तुम एक छोटा-सा व्यापार शुरू करो। व्यापार में लाभ-ही-लाभ हो, इसका विशेष ख्याल रखना। व्यापार में लाभ होने पर मैं तुम्हें और भी रुपये दूँगा और लगातार सहायता करता रहूँगा। मुझे पूर्ण आशा और भरोसा है कि एक दिन तुम व्यापार में बहुत आगे जाओगे और एक बड़े व्यापारी बन सकोगे।" उनके पिता ने एक पड़ोसी का लड़का, जिसका नाम बाला था, उसे भी नानक के साथ भेज दिया, ताकि वह नानक को अपनी राय देकर व्यापार में उनकी सहायता करता रहे। साथ ही पिता ने नानक को समझाते हुए कहा—"पुत्र! व्यापार में तुम कभी धोखा मत खाना। तुम हमेशा खरा सौदा ही करना। जिसमें लाभ मिलना सुनिश्चित हो, उसी में रुपये लगाना।"

नानक और बाला तलवंडी से चूड़काणे के लिए चल पड़े। रास्ते में एक स्थान पर सड़क के किनारे साधुओं का डेरा दिखाई दिया। नानक जी ने साधुओं के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की तथा दोनों साथी रास्ता छोड़ साधुओं के डेरे में पहुँच गए। उस समय वहाँ सभी साधु भजन में व्यस्त थे। नानक जी ने साधुओं के महंत से मिलकर उनसे विनती की—"महाराज! मैं आपकी कुछ सेवा करना चाहता हूँ।" आप सभी साधु जनों के लिए क्या भोजन की कोई व्यवस्था हुई है?" इस पर प्रमुख महंत ने कहा—"पुत्र! कोई दानी भोजन ला देता है तो हम सब भोजन कर लेते हैं और जिस दिन भोजन की व्यवस्था नहीं हो पाती है, उस दिन हम सब बिना भोजन के ही समय व्यतीत कर लेते हैं।"

यह सुनकर नानक जी का मन बहुत द्रवित हुआ कि इन साधु जनों को कभी-कभी बिना भोजन के भी रह जाना पड़ता है। फिर नानक जी ने महंत को 20 रुपये दे दिए और कहा—"आप इन रुपयों से भोजन की व्यवस्था कर लें।" महंत जी ने पूछा—"पुत्र! यह रुपये तुम हम साधुओं को क्यों देना चाहते हो?" इस पर नानक जी ने कहा—"महाराज! मेरे पिताजी ने मुझे 20 रुपये दिए थे और उन रुपयों से मुझे खरा सौदा करने को भेजा है। मुझे लगता है कि इससे अच्छा खरा सौदा और हो नहीं सकता। इसमें मुझे लाभ-ही-लाभ दिखाई देता है।"

तब महंत ने कहा—"बेटा! हम रुपये नहीं लेते। अगर तुम्हारी इच्छा है तो हमें अनाज, राशन आदि ला दो और हम स्वयं भोजन तैयार कर लेंगे।" यह सुनकर नानक जी चूड़काणे गए और वहाँ से सभी प्रकार की रसद खरीदकर एक बैलगाड़ी में लदवाकर साधु जनों को देकर वापस घर लौट गए। तलवंडी गाँव पहुँचकर वे अपने गाँव की चौपाल पर बैठ गए तथा बाला को घर भेज दिया।

जब नानक जी के पिता को ज्ञात हुआ कि बाला लौट आया है, पर नानक घर नहीं पहुँचा तो उन्होंने बाला को बुलाकर सारी जानकारी प्राप्त की। उनको जैसे ही ज्ञात हुआ कि रुपये व्यापार में लगाने के बजाय नानक ने सारे रुपये साधुओं पर खरच कर दिए हैं तो वे बहुत क्रोधित हुए। वे गाँव के बाहर चौपाल पर बैठे नानक जी के पास पहुँचे और पूछा—"रुपये कहाँ हैं? सौदा कहाँ हुआ?" इस पर नानक जी शांत चित्त बैठे रहे। फिर पिता ने पूछा—"नानक! तुमने यह क्या कर दिया? रुपये व्यापार में लगाने के बजाय फकीरों पर क्यों खरच कर दिए?"

तब शांत चित्त बैठे नानक जी ने कहा—"पिताजी! आपने ही कहा था कि बेटा, खरा सौदा ही करना। इसलिए मैंने अपनी ओर से बहुत सोच-समझकर सौदा ही किया है। इस सौदे में लाभ-ही-लाभ है। इस सौदे में परब्रह्म परमात्मा का प्यार मिलने वाला है। इसलिए मैंने ऐसा सौदा किया है।" नानक जी का उत्तर सुनकर वहाँ उपस्थित सभी लोग अवाक् रह गए, आश्चर्यचकित रह गए। ऐसा अनोखा सौदा करने वाले नानक देव आगे चलकर सभी के लिए पूज्य बने और मानवता को सचमुच एक नई दिशा दी, नई रोशनी दी। ❑

महाविष है क्रोध

'क्रोध' मनुष्य को मदिरा की भाँति विचारशून्य एवं पक्षाघात की भाँति शक्तिहीन कर देता है। वाल्मीकि ऋषि ने रामायण में कहा है कि 'क्रोध' प्राणों को लेने वाला शत्रु है और सर्वनाश की ओर ले जाने वाली राह है। क्रोध एक भयानक विष है। जीवन में सब कुछ हमारे मनमुताबिक नहीं होता है और अवांछित, आकस्मिक व्यवसाय हानि, अपमान अथवा किसी की अस्वीकृति हमें क्रोधित कर बैठती है।

क्रोध में हम विवेक गँवाकर भयंकर अपराध कर बैठते हैं। उत्तेजना में आकर व्यक्ति हत्या-आत्महत्या और खून-खराबा तक कर बैठता है। क्रोध हत्यारा है, हिंसक है, क्रूर है—यह व्यक्ति को हत्यारा तक बना देता है। व्यक्ति का भविष्य बिगाड़ देता है। एक पल भर का क्रोध जिंदगी भर के लिए अभिशाप बन जाता है। क्रोध में दया नहीं होती है, करुणा नहीं होती है। क्रोध सृजन नहीं, विध्वंस करता है। क्रोध विष है, क्रोध एक असंतुलन है, क्रोध एक मनोविकार है, क्रोध पागलपन है, क्रोध नरक का द्वार है।

गीता में क्रोध का कारण कामना में बाधा पड़ना कहा गया है। 'हमारा मनचाहा हो यह कामना है' जब इसमें रुकावट आती है, व्यवधान आता है तो क्रोध आता है। मुस्कराता चेहरा सभी को पसंद है व प्रभावित करता है। मनुष्य चाहे कितना ही धनी, विद्वान तथा उच्च पद पर आसीन क्यों न हो, किंतु उसका व्यवहार मधुर व नम्रता से युक्त न हो तो उसे सभ्य नहीं माना जाता है। यदि वह बात-बात में क्रोध करे, आवेश में व आक्रोश में आए, झल्लाए तथा अहंकार के कारण अपने अधीनस्थ लोगों को छोटी-छोटी मामूली बातों पर फटकारे व प्रताड़ित करे तो लोग उससे प्रसन्न नहीं रहते हैं, अपितु वह निंदा का पात्र बनता है। उसका व्यवसाय व कारोबार प्रभावित होता है तथा लोग मन-ही-मन उसके अमंगल की कामना करते हैं।

क्रोध से जीवन के हर क्षेत्र में हानि व नुकसान उठाना पड़ता है। प्रज्ञापुरुषों, दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों, चिकित्सकों, शरीरशास्त्रियों द्वारा विभिन्न माध्यमों से ये ही बताया गया है। आयुर्वेद क्रोध को अनेक बीमारियों का जनक मानता है। क्रोध की स्थिति में व्यक्ति की विवेकशीलता घट जाती है। उस समय पित्त का प्रकोप अधिक हो जाता है। मुँह और आँखें लाल हो जाती हैं। शरीर तन जाता है। ओंठ काँपने लगते हैं। मुट्ठियाँ बँध जाती हैं। गला सूखने लगता है एवं रक्तचाप बढ़ जाता है।

क्रोध का आवेश चढ़ने पर व्यक्ति अर्द्धविक्षिप्त जैसी स्थिति में जा पहुँचता है। उसकी निर्णय-क्षमता, व्यवहार सब कुछ विचित्र हो जाते हैं। क्रोध का आवेश जिस पर चढ़ रहा हो उसकी गतिविधियों पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डाली जाए तो पता चलेगा कि पागलपन में अब कुछ थोड़ी ही कसर रह गई है। अधिक क्रोध आने पर मस्तिष्कीय द्रव उबलने लगता है और यदि उसे ठंढा न किया जाए तो मानसिक रोगों से लेकर हत्या या आत्महत्या जैसे क्रूर कार्य कर बैठने जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। गुस्से में तमतमाया चेहरा विकृत बन जाता है।

आँखें, ओंठ, नाक इत्यादि पर गुस्से के भाव प्रत्यक्ष दिखते हैं। मुँह से अशिष्ट व अमर्यादित शब्दों का उच्चारण होने लगता है। रक्त-प्रवाह की तेजी से शरीर जलने लगता है। हाथ-पैर काँपते हैं तथा ऐसे में रोएँ तक खड़े होते देखे गए हैं। क्रोध के कारण उत्पन्न होने वाली विषाक्त शर्करा पाचनशक्ति के लिए सबसे खतरनाक है। यह रक्त को विकृत कर शरीर में पीलापन, नसों में तनाव, कटिशूल आदि पैदा करती है। आयुर्वेद के अनुसार—क्रोध की अवस्था में माँ का दूध पीने से बच्चे के पेट में मरोड़ होने लगती है और हमेशा क्रोधित रहने वाली माँ का दूध कभी-कभी तो इतना विषाक्त हो जाता है कि बच्चे को जीर्ण रोग तक हो जाता है।

प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री डॉ० जे० एस्टर का कथन है—"15 मिनट का क्रोध व्यक्ति के साढ़े नौ घंटे के श्रम के बराबर शक्ति को नष्ट कर देता है। क्षण भर के क्रोध से 1600 आर० बी० सी० जल जाती हैं; जबकि समता भाव से केवल 1400 आर० बी० सी० बनती हैं।" क्रोध के समान कोई पाप नहीं है और क्रोध के समान कोई शत्रु नहीं

है। क्रोध अनर्थों का मूल है। इस प्रकार क्रोध वर्जित है। महाभारत में क्रोध को चांडाल कहते हुए कहा गया है—''जो मुनि क्रोध करता है, वह चांडाल से भी बढ़कर है। क्रोध से व्यक्ति कृत्य-अकृत्य के विवेक से विहीन हो जाता है। क्रोध उसके विवेक को नष्ट कर देता है।'' एक पाश्चात्य विद्वान ऐंगल सोल ने भी क्रोध से हानि के संबंध में कहा है—''क्रोध मन के दीपक को बुझा देता है। क्रोध में व्यक्ति को बोलने का भान नहीं रहता है। वह अमर्यादित बोलता है, अपशब्द बोलता है। क्रोधावेश में व्यक्ति आँखें बंद कर लेता है और मुँह खोल देता है।''

क्रोध को दूर करने के उपाय के संबंध में भगवान महावीर ने कहा है—''शुभ कार्य करना है तो उसमें क्षण मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यदि अशुभ कार्य है तो उसमें अधिकाधिक विलंब करो, ताकि उसको करने की संभावना समूल नष्ट हो जाए।'' क्रोध के आते ही हम मौन धारण कर लें। अपने मन में गिनती शुरू कर सौ तक बोलें। क्रोध परिस्थितिजन्य होता है; अतः हमें चाहिए कि हम उन परिस्थितियों को जाँचें-परखें व उन्हें दूर करने का प्रयास करें; जिनसे क्रोध उत्पन्न होता है। अपने क्रोध को हमें सदा संयमित एवं नियंत्रित करना चाहिए। ❑

ऋषि भरद्वाज का समूचा जीवन तपस्या में व्यतीत हुआ। जीवन के अंतिम क्षणों में जब देवदूत उन्हें लेने आए तो उन्होंने देवदूतों का सर्वप्रथम आभार प्रकट किया व साथ ही उनसे अनुरोध के स्वर में कहा—''यदि आप सभी देव गण मुझ पर प्रसन्न हों तो कृपाकर मुझे भूलोक में ही जन्मने का सुअवसर पुनः प्रदान करें। स्वर्ग जाकर मैं क्या करूँगा।''

ऋषिवर की इस विचित्र इच्छा से देवदूतों को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस कठोर निर्णय के पीछे का कारण जानने की जिज्ञासा में देवदूतों ने उनसे पूछ ही लिया—''ऋषिवर! तप का लक्ष्य स्वर्ग होता है, सो आपको मिल चुका है। तब तप किसलिए?'' भरद्वाज मुस्कराए और अपना मंतव्य स्पष्ट करते कहने लगे—''ज्ञानसंचय के लिए देव गण। पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए अभी विद्या की संपदा मेरे पास नहीं के बराबर है और उसके लिए अभी मैं और भी अनेक जन्मों तक तप करने का आकांक्षी हूँ।''

अपनी बात आगे बढ़ाते हुए ऋषिवर कहने लगे—''हे देव गण! आप तो जानते ही हैं कि ज्ञान स्वर्ग से ऊँचा है। स्वर्ग से क्षणिक विलास की सुविधाएँ तो प्राप्त की जा सकती हैं, किंतु शाश्वत आनंद का प्रदाता तो एकमात्र ज्ञान ही है।'' देव गण भरद्वाज के ज्ञान से अत्यंत प्रभावित हुए व उन्हें मनोवांछित गति ससम्मान प्रदान की। सत्य कहा गया है कि 'विद्यायाऽमृतमश्नुते'—इसके समक्ष सारे संसार का वैभव यहाँ तक कि स्वर्ग का सुख भी तुच्छ है।

श्रम एव जयते

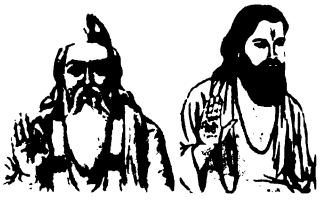

भारत देश के समुचित विकास के लिए 'श्रम' को 'सत्य' की तरह महत्त्व और सम्मान देने की आवश्यकता है। आज हमें 'श्रम एव जयते' को 'सत्यमेव जयते' की तरह प्रतिष्ठित करने की जरूरत है। यह अभियान भारतीय ऋषि परंपरा के अनुरूप है। श्रम की उपेक्षा वे ही करते हैं, जो जीवन के 'सत्य' को समझ नहीं पाते। जो 'सत्य' को समझते हैं वे 'श्रम' को अनिवार्य और मनुष्य की गरिमा को बढ़ाने वाला मानते हैं।

सत्-चित्-आनंद के रूप में हमारी संस्कृति में ईश्वर को सच्चिदानंद (सत् + चित् + आनंद) स्वरूप कहा गया है। सत् अर्थात जो वास्तव में है, श्रेष्ठ है, सदैव है। चित् का अर्थ होता है—चेतन, ऊर्जावान, सक्रिय। इन दोनों गुणों को अंगीकार करने से ही 'आनंद' की प्राप्ति संभव होती है। लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के जीवन में सफलता इन्हीं के माध्यम से प्राप्त होती है। जीवन समर में वही जीत पाता है।

सत्यमेव जयते—सत्-सद् को समझने वाला ही जीवन के सही आधारों को मान्यता देते हुए आगे बढ़ता है और लक्ष्य तक पहुँचता है। सत्य से विरत व्यक्ति भ्रम में सही को गलत और गलत को सही मान कर गलत आधारों को मान्यता देते हुए आगे बढ़ता है और मृग-मरीचिकाओं के आकर्षण में दौड़-भाग कर जीवन गँवा देता है तथा अंत में हताशा और पश्चात्ताप का शिकार हो जाता है।

विडंबना यह है कि आजकल अधिकांश व्यक्ति उक्त सूत्र को सिद्धांतत: सही मानते हुए भी व्यवहारत: ठीक नहीं मानते। सत्य की साधना की जगह सत्य का प्रदर्शन भर पर्याप्त मान कर अपना काम चलाना चाहते हैं। सत्य को, ईमानदारी को नियम (रूल) नहीं, नीति (पॉलिसी) भर मानते हैं। ऐसे लोग 'सत्यमेव जयते' के सूत्र पर सही रूप में विश्वास नहीं करते।

सत्य की समझ भी अधिकांश व्यक्तियों को नहीं होती। वे सत्य समझने की जगह अपनी मान्यता को ही 'सत्य' सिद्ध करने के लिए जी-तोड़ प्रयास करते रहते हैं। सत्य को समझने और अपनाने के लिए विवेक और साहस दोनों को निखारना पड़ता है। परमपूज्य गुरुदेव ने प्रज्ञापुराण के दूसरे खंड में सत्य का यथार्थ समझाते हुए लिखा है कि सत्य शब्दों तक सीमित नहीं होता, वह भावों से, उद्देश्य से सिद्ध होता है। इसके लिए उन्होंने निम्नांकित घटना का उद्धरण दिया है।

दो ठग यदि किसी व्यक्ति के मित्र बन जाएँ और समय पाकर एक ठग उसका बटुआ उठाकर साथी ठग की जेब में डाल दे। वह व्यक्ति पूछे—"मेरा बटुआ कहाँ है?" पहला ठग कसम खाकर कहे—"मेरे पास नहीं है।" दूसरा ठग कहे—"मैंने तो छुआ ही नहीं है।" शब्दों की दृष्टि से दोनों सत्य भाषण कर रहे हैं, किंतु दोनों का उद्देश्य उस व्यक्ति को ठगना है।

वे दोनों जानते हैं कि बटुआ उन्हीं की मिली-जुली साजिश से चुराया गया है। शब्दों के जाल में उसे उलझा कर वे सत्य का पालन नहीं करते, सत्य का गला ही घोटते हैं। इसके विपरीत चिकित्सक मरीज का मनोबल बढ़ाने के लिए होने वाले ऑपरेशन को सामान्य, सहज बताता है अथवा अभिभावक एक जिद्दी बच्चे को शांत करने के लिए उसको बातों में बहला देते हैं तो उनके शब्द भले ही सच नहीं, किंतु उनकी नीयत, उनके उद्देश्य सत् होने के कारण वे सत्य के साधक ही कहे जाएँगे।

अत: 'सत्यमेव जयते' को जीवन में प्रतिष्ठित करना है तो सत्य के बोध का सद्विवेक जाग्रत करने का तथा उसे जीवन में अपनाने का साहस जाग्रत करना होगा। जो जीवन के सत्य को समझेगा, वह ही श्रम के महत्त्व और गौरव को भी समझ सकेगा अन्यथा सत्य और श्रम, दोनों का प्रदर्शन भर करके वह उनसे किनारा कर लेगा।

श्रम एव जयते का उद्घोष इसलिए आवश्यक है। जीवन का आधार सत् (सत्य) है तो जीवन का सहज स्वभाव चित्—चेतन है। जड़ निष्क्रिय और चेतन सक्रिय होता है। इस विश्व का गुण चेतनता-सक्रियता है। उपनिषद् में विश्व की उत्पत्ति के संबंध में एक आलंकारिक आख्यान

दिया गया है—'परमेश्वर ने तप (विश्वसृजन के उच्च उद्देश्य से पुरुषार्थ) किया। तप से उसे पसीना आया। उस पसीने से ही विश्व की उत्पत्ति हुई—अर्थात यह जीवन पुरुषार्थ-परिश्रम से ही उपजा है और उसी के माध्यम से सफल होता है। यहाँ परिश्रम को 'तप' क्यों कहा गया? इस बात को हम परमपूज्य गुरुदेव के विचारों के आधार पर समझ सकते हैं।

श्रम को सार्थक, गरिमामय बनाना है तो उसके लिए श्रम के साधक में तीन प्रवृत्तियाँ होनी ही चाहिए। (1) श्रम के प्रति सम्मान का भाव, (2) श्रम करने की पर्याप्त क्षमता तथा (3) श्रम की सृजनात्मकता। 'तप' शब्द के साथ ये तीनों भाव जुड़े रहते हैं। श्रम को भ्रमवश कोई छोटा भले कह ले, किंतु 'तप' के साथ तो गौरव-बोध जुड़ा ही रहता है।

'तप' का उद्देश्य सिद्ध होने तक निरंतर चालू रखा जाता है, यह श्रम की क्षमता का बोधक है। तप किसी अच्छे उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है, इसलिए श्रम की सृजनात्मकता भी उसके साथ जुड़ी होती है। इसीलिए उपनिषद्कार ने श्रम को 'तप' के रूप में व्यक्त किया है। श्रम की प्रतिष्ठा करनी है तो हमें भी उसे 'तप' के पवित्र और गरिमामय भाव से ही अपनाना होगा। दुर्भाग्य से आज श्रम को छोटा तथा गरिमा गिराने वाला कार्य समझा जाने लगा है। हमें यह मान्यता बदलनी होगी। श्रम के प्रति सम्मान का भाव जाग्रत करना होगा।

श्रम की गरिमा एवं प्रतिष्ठा को हमें समझना चाहिए। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है—'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।**' अर्थात कर्म करते हुए हम सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। आराम करते हुए, भोग करते हुए, चैन की बंशी बजाते हुए, सौ वर्ष जीने के लिए क्यों नहीं कहा उपनिषद् के ऋषि ने? इसीलिए कि श्रम के अभाव में आराम, आनंद, यहाँ तक कि सौ वर्ष जीने का अधिकार भी हमसे छिन जाता है। श्रम के साथ ही जीवन अपनी महानता और समृद्धियों के परदे खोलता है। जीवन की पूर्णता प्राप्त करनी है तो परिश्रम करना ही पड़ेगा। स्वामी विवेकानंद ने कहा है—"श्रम ही जीवन है। जिस समाज में श्रम को महत्त्व नहीं मिला, वह जल्द ही नष्ट हो जाता है।"

अमेरिका के धनकुबेर हेनरी फोर्ड ने लिखा है—'हमारा काम हमें जीने के साधन ही प्रदान नहीं करता, वरन स्वयं जीवन प्रदान करता है।' पं० नेहरू ने अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखा है—'काम के भार से ही मैं अपने शरीर और मस्तिष्क की स्फूर्ति तथा क्षमता कायम रख पाता हूँ।' हमारा काम ही हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है तथा हमारे जीवन में महान संभावनाओं के द्वार खोलता है। श्रम ही उन्नत जीवन और उज्ज्वल भविष्य का सशक्त आधार है। बार्टन ने लिखा है—'श्रम एक शक्तिशाली चुंबक है, जो श्रेष्ठताओं को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।'

कई लोग यह कहते हैं कि हमने बहुत श्रम किया तो हमें क्या मिला? इसका उत्तर यह है कि यदि श्रम को साधना के भाव से किया जाए तो वह मनुष्य को बहुत कुछ देता है। श्रम ही आनंद और प्रसन्नता का जनक है। डॉ० विश्वेश्वरैया ने कहा है—"श्रम से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है और उससे संतोष एवं प्रसन्नता की प्राप्ति होती है।" श्रम का अर्थ है आनंद और अकर्मण्यता का अर्थ है दुःख एवं परेशानी। श्रमशील व्यक्ति ही अधिक संतुष्ट और आनंदित रह सकता है। इसके विपरीत अकर्मण्यता मनुष्य को बुराइयों तथा नीरसता की ओर ले जाती है। जो व्यक्ति श्रम की गरिमा को समझेगा, वही श्रमनिष्ठ बनेगा और श्रम देवता के अद्भुत अनुदान प्राप्त कर सकेगा।

श्रम के अनुदान व्यापक हैं। श्रम करने वालों को जीवन के कुछ अतिमूल्यवान अनुदान सहज ही मिल जाते हैं; जैसे—स्वस्थ शरीर। श्रमशीलों को ही स्वस्थ और निरोगी देखा जाता है। श्रम से भागने वाले तो तमाम चिकित्सकों और दवाओं का सहारा लेकर भी रोगों के शिकार बने रहते हैं। स्वस्थ-नीरोग रहने के लिए श्रम जरूरी है। वह चाहे उत्पादक श्रम के रूप में किया जाए, चाहे व्यायाम के रूप में अथवा पैसे देकर फिजियोथैरेपिस्ट द्वारा कराया जाए।

रोगों को दूर करने तथा आरोग्य लाभ देने के मोर्चे पर श्रम ही जीतता है। विश्राम का सुख भी अपार है। यह सुख वास्तव में श्रम से थकने वाले को ही मिलता है। श्रम की थकान के बिना, मोटे गद्दों पर वातानुकूलित कमरे में भी लोगों की नींद उचटी-उखड़ी सी रहती है। बहुतों को तो नींद की गोली खाकर बनावटी नींद लेनी पड़ती है। दूसरी ओर श्रमशील व्यक्ति कहीं भी पैर पसार कर लेटते ही गहरी नींद का सुख प्राप्त करता है। जब वह उठता है तो पूरी तरह तरोताजा, स्फूर्ति से भरा होता है।

भोजन के सुख के समान और कुछ नहीं है। भोजन का भी सही सुख उसे मिल पाता है, जिसे कड़ी भूख लगती है। कड़ी भूख का भी संबंध कड़ी मेहनत से होता है। अधकच्ची भूख में लोग स्वाद पैदा करने के लिए न जाने क्या-क्या उपक्रम करते हैं, किंतु उन्हें भोजन से वह सुख-संतुष्टि ही नहीं मिल पाती, जो कड़ी भूख वालों को सामान्य आहार से मिल जाती है।

श्रम प्रतिभा को निखारता है। संतोष और आनंद की प्राप्ति की बात महापुरुषों के जीवन प्रसंगों में स्पष्ट की जा चुकी है। अत: श्रम को साधना मान कर करने वाले व्यक्ति इन सभी अनुदानों को सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। बहुधा बुद्धिजीवी-प्रतिभाशाली व्यक्ति शारीरिक श्रम में समय न गँवाकर अपने विशेष कार्यों को ही प्राथमिकता देते हैं, किंतु जीवन का सत्य समझने वाले प्रबुद्ध जन भी शारीरिक श्रम के द्वारा अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता को विकसित करते और निखारते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीनकाल में राजा-रहीसों के बच्चे भी ज्ञान के साथ श्रम-साधना भी करते थे।

रूस के संत, सुधारक, साहित्यकार श्री लियो टॉल्स्टाय ने भी इस सत्य का अनुभव किया और लिखा है—पहले वे 40 साल तक केवल लेखन कार्य पर ही ध्यान केंद्रित करते थे। बाद में उन्होंने श्रम का महत्त्व समझा और उसका अनुभव किया और तब उन्होंने लिखा कि जितना लेखन कार्य मैंने 40 वर्ष में किया—श्रम से निखरी प्रतिभा के नाते उतना कार्य बड़ी सहजता से 15 वर्ष में किया जा सकता था।

यह सर्वविदित है कि संत कबीर बुनकर थे, रैदास चर्मकार का काम करते थे, नंदा नाई थे, नामदेव दर्जी का काम करते थे। श्योनाक सफाई का काम करते थे, रैक्य ऋषि गाड़ी में सामान ढोते थे। इन श्रमपरक कार्यों से उनकी गरिमा गिरी नहीं, बल्कि प्रतिभा निखरी तथा प्रतिष्ठा बढ़ी। फिर श्रमपरक कार्यों से हमारी प्रतिष्ठा क्यों गिरेगी?

भगवान कृष्ण ने इसी तथ्य को समझाते हुए लोगों को स्वधर्म की शिक्षा दी और कहा कि अपना कर्म करते हुए प्रत्येक व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी है, चाहे वह कोई भी क्यों न हो? इतना ही नहीं, इस कर्म-धर्म की, श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए उन्होंने अपने जीवन में सब तरह के कर्म किए। ग्वाला बनकर गाय चराईं। सारथी बनकर अर्जुन का रथ हाँका। राजसूय यज्ञ में जमीन साफ की। अतिथियों की जूठी पत्तलें उठाईं। अतिथियों के पैर भी धोए और गीता का महान उपदेश भी दिया। शांतिदूत बनकर कौरवों-पांडवों के बीच संधि कराने का प्रयत्न किया, तो योद्धा बनकर लड़े भी। गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए योगी भी बने रहे। भगवान श्रीकृष्ण के इस मार्ग का अनुसरण करके महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, संत विनोबा भावे आदि महान बन सके तो हमें उस मार्ग को अपनाने में संकोच क्यों होना चाहिए?

श्रम का संतुलन जरूरी है। श्रम में शारीरिक के साथ मानसिक श्रम को, शारीरिक तत्परता के साथ मनोयोग को भी जोड़कर रखना चाहिए। इनके संतुलन से ही श्रम का संतुलन बनता है। शारीरिक श्रम करने वाले बहुधा मानसिक श्रम से बचते हैं, इसलिए उन्हें मूर्ख, गँवार जैसे शब्दों से संबोधित किया जाता है। पढ़े-लिखे लोग शारीरिक श्रम के अभाव में दुर्बल, रोगी जैसी स्थिति में रहते हैं।

बौद्धिक क्षमता के अभाव में श्रमिक खेत में उन्नत फसल तथा फैक्टरियों में श्रेष्ठ उत्पादन करने में सफल नहीं होते। इसलिए उन्हें मानसिक विकास के अवसर दिए जाने चाहिए। इसी प्रकार मानसिक श्रम करने वालों को संकल्पपूर्वक शारीरिक श्रम के कार्यों को भी अपनाना चाहिए।

संतुलित श्रमनिष्ठा का महत्त्व भी समझा जाए। हमारा जीवन हर तरह से विकसित होना चाहिए। चिंतन एवं क्रियाशीलता, दोनों को ही उत्तरोत्तर विकसित करने की रुचि जगाई जा सके तो होने वाले परिणामों को देखकर चमत्कृत होना पड़ेगा। समूचे व्यक्तित्व का कायाकल्प हो सकेगा।

संभवत: इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर कभी यह वाक्य जगह-जगह लिखा गया था—'कड़ी मेहनत, दूरदृष्टि, पक्का इरादा, अनुशासन।' यह सूत्र श्रम की प्रतिष्ठा की दृष्टि से आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। परमपूज्य गुरुदेव का कथन है कि 'श्रम की समग्रता एवं संतुलन के अलौकिक रहस्य समझें और उन्हें आचरण में लाएँ तो हम स्वयं को समाज की अग्रिम पंक्ति में पाएँगे। यह एक प्रकार की जीवन-साधना और प्रत्यक्ष फल देने वाली चमत्कारी विद्या है।' श्रम को सत्य के समान प्रतिष्ठित करना चाहिए। ❑

मानवता के अग्रदूत—स्वामी विवेकानंद

तर्क और बौद्धिक कसौटी पर जीवन की सारी क्रियाशीलता को तोलने वाले स्वामी विवेकानंद मानवता के अग्रदूत थे। 'गीता' से उन्होंने अपने जीवन हेतु शिक्षा ग्रहण की। छोटी-छोटी बातों को बड़ी मानते हुए उनकी उन्होंने व्याख्या की और जीवन की सफलता के मंत्र दिए। भारत त्रिगुण संस्कृति का देश है, यह संयोग ही है।

ज्ञान, कर्म व साहित्य की त्रिगुणात्मिका शक्ति से संपन्न स्वामी विवेकानंद का जन्म ऐसे समय में हुआ जब प्राचीन कट्टरपंथी सनातनी, संरक्षणशील, विचारधारा तथा नवीन पाश्चात्य भावापन्न, भौतिकवादी विचारधारा में टकराव हो रहा था। तब कोई दृढ़ संकल्पवान व्यक्तित्व ही भारतीय समाज के मानस को पहचानकर विखंडित समाज की नौका को डूबने से बचा सकता था, उनमें पूर्व और पश्चिमी विचारधाराओं के संगम से नवजागरण के पथ पर भारत को अग्रसर कर सकना था और यह दु:साध्य कार्य और दुर्द्धर्ष पुरुषार्थ कर दिखाया—स्वामी विवेकानंद ने।

स्वामी जी का समूचा व्यक्तित्व भारतीयता के ताने-बाने से बुना था, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे सीमित थे या उनकी भावनाएँ सीमित थीं। इसके विपरीत उनका हृदय समूची मानवता के लिए स्पंदित होता था। वे अपनी मातृभूमि की दुरावस्था के प्रति विशेष सजग थे। देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव देखकर वे बड़े दु:खी होते थे।

इसलिए भारतवासियों के हृदय में अपनी मातृभूमि और अपने देशवासियों के प्रति प्रेम का बीज बोने के लिए उन्होंने भारतीयों को संबोधित कर कहा था—"मत भूलो कि अज्ञानी, दरिद्र और दलित तुम्हारे रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम भी केवल कमर में कपड़ा लपेट, गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरे प्राणी हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवाड़ी और बुढ़ापे की काशी है। भाई! बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है और रात-दिन कहते रहो—हे ईश्वर! मनुष्यत्व दो। माँ! मुझे मनुष्य बना दो।"

स्वामी जी ने भारतवासियों की सुप्त राष्ट्रीय चेतना में जागरण के बीज बो दिए। उन्होंने भारत की गरिमा का गुणगान ही नहीं किया, बल्कि उस गरिमा की पुन:प्राप्ति का मार्ग भी प्रशस्त किया। उन्होंने कहा था—"जो अपने आप पर विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है।" प्राचीन धर्मों ने कहा है—"वह नास्तिक है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता।" नया धर्म कहता है—"वह नास्तिक है, जो स्वयं पर विश्वास नहीं करता।"

स्वामी जी ने संपूर्ण देश का भ्रमण कर यहाँ की आत्मा को पहचाना था। भारतीय जनता की नब्ज पर उनका हाथ था। इस देश की समस्याओं को उन्होंने उनकी तह तक जाकर देखने का प्रयास किया था और इसके बाद उन्होंने धर्म का उपदेश दिया था। इसी कारण उनका धर्म केवल कर्मकांड नहीं, कर्मयोग का सूत्र था, इस देश की करोड़ों जनता के दु:ख-दरद को दूर करने का व्रत था। गरीबों के रहनुमा के रूप में स्वामी विवेकानंद ने स्पष्ट रूप से कहा था—"मैं ईश्वर की उस उपासना में विश्वास नहीं करता, जो किसी विधवा के आँसू न पोंछ सके या किसी भूखे के मुँह में रोटी का टुकड़ा न डाल सके।"

उन्होंने यह भी कहा था—"भगवान, पोथी-पुराणों में नहीं, धार्मिक पुस्तकों में नहीं, गरीबों में है। क्या सभी कमजोर, सभी पीड़ित भगवान नहीं?" गरीबों के सखा, मानवता के उपासक इस संत की वाणी को यदि देश ने ध्यान से सुना होता तो आज हमें पतन के वर्तमान दिन नहीं देखने पड़ते। स्वामी जी के ये शब्द आज भी हमारे हृदय को स्पंदित करते हैं।

उन्होंने कहा था—"खड़े हो जाओ-सुदृढ़ बनो, शक्तिवान बनो, संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने कंधों पर उठाओ और समझ लो कि अपने भविष्य के निर्माता स्वयं हो। अपने ओंठों को बंद रखकर, अंत:करण को खुला रखते हुए, भारत के पुनरुत्थान के कार्य में पूरे परिश्रम से जुट

जाओ। तुम्हारे कंधों पर ही भारत और इसका भविष्य निर्भर है।''

स्वामी विवेकानंद भारत माँ की कोख से जन्म लेने वाली ऐसी विभूति थे, जिनके अंत:करण से यह देश कभी भी ओझल नहीं हुआ। इस देश के निवासियों की दशा के बारे में उनके हृदय में सदैव बेचैनी बनी रही। उनकी दुर्दशा को समाप्त करने की दिशा में वे निरंतर विचार करते रहे।

जब वे इस देश में रहे तो उन्होंने देश के लिए काम किया, जब वे इस देश से बाहर गए तो भी देशवासियों के बारे में सोचा। उन्हें यह देश, इसकी मिट्टी, इसका दर्शन, इसकी संस्कृति और इसके निवासी इतने प्यारे थे कि उन्होंने अपने चिंतन का आधार इन्हीं को बनाया। इसमें संदेह नहीं कि स्वामी जी एक बहुत बड़े देशभक्त और समाज सुधारक थे। उन्होंने इस देश के निवासियों को जाग्रत करने का सदा प्रयास किया।

स्वामी जी ने कहा था—''यदि तुम इस देश का कल्याण करना चाहते हो, तो तुम सबको गोविंद सिंह बनना होगा। भले ही कोई तुम्हें गाली दे, पर तुम्हें स्नेह की भाषा बोलनी होगी। यदि कोई तुम्हें धक्का दे, तो तुम्हें उस शक्तिशाली सिंह गोविंद सिंह की तरह, मृत्यु की गोद में चुपचाप सो जाना होगा। ऐसा ही व्यक्ति सच्चा भारतीय कहलाने का अधिकारी है।'' काश! हमने स्वामी जी के अंत:करण की वेदना को समझा होता। स्वामी जी के मन और मस्तिष्क में हमेशा भारत और भारत का भविष्य ही चक्कर काटते रहते थे। वे जानते थे कि यह काम दो दिन का नहीं, मार्ग भी सुगम नहीं, काँटों से भरा पथ है, विपत्तियाँ हैं, विरोध हैं।

स्वामी जी ने देश की शिक्षा-प्रणाली पर भी अपना अभिमत व्यक्त किया था। उनके शिक्षा विषयक विचार जितने स्पष्ट हैं, उतने उपयोगी भी। स्वामी जी का कहना था—''मस्तिष्क में अनेक प्रकार की अव्यवस्थित जानकारियाँ भरी रहें तो वे जीवन भर कष्ट देती रहेंगी। आज हमें ऐसी शिक्षा की जरूरत है, जो हमारे आने वाले जीवन को व्यवस्थित करे, जो हमें पुरुषार्थ प्रदान करे, जो हमारी शुभ प्रवृत्तियों को सबल बनाए। इसलिए जो तत्त्व हमें सिखाए जाते हैं, उन्हें पूरी तरह से आत्मसात् कर लें।''

उन्होंने आगे कहा—''शिक्षा के द्वारा राष्ट्रमन का गठन होता है राष्ट्र के मेरुदंड का निर्माण होता है। शिक्षा पर आगामी पीढ़ी का भविष्य निर्भर रहता है। जिस देश में शिक्षा की उपेक्षा होती है, उसके भविष्य को अंधकारमय ही कहा जा सकता है।''

उन्होंने देश के युवकों को ज्ञान के साथ शारीरिक बल अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिससे ज्ञान के प्रचार के साथ-साथ समाज सुधार तथा समाज को स्वस्थ और बलवान बनाने का कार्य भी चल सके। इसी दृष्टि से योग्य मार्गदर्शन करने वाले ज्ञानी, देशभक्त, धार्मिक एवं समाज सुधारक निष्ठावान संन्यासियों की उन्होंने परंपरा स्थापित की।

नवभारत के निर्माण के लिए स्वामी जी ने चरित्रवान युवकों का आह्वान किया। उनका विचार था—''भारत को कम-से-कम अपने सहस्र मनुष्यों की बलि की आवश्यकता है, पर ध्यान दो 'मनुष्यों' की, 'पशुओं' की नहीं। भारत तभी जागेगा, जब इसके विशाल हृदय वाले सैकड़ों नर-नारी भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर उन भारतीयों के कल्याण के लिए सचेष्ट होंगे, जो निरंतर दरिद्रता तथा अज्ञान के सागर में डूबते जा रहे हैं।'' भारत के नवनिर्माण के लिए स्वामी जी के इस अग्नि अभिषेक मंत्र को हम सदैव याद रखें—'उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति किए बिना, विश्राम मत लो।'

वे ऐसे संबुद्ध थे, जो यह जानते थे कि सभी धर्मों का सत्य क्या है या सभी लोग किस सत्य की खोज को परमात्मा की खोज के रूप में अनुभव करते आए हैं। वे केवल अपनी परिधि में सीमित नहीं रहे थे। वे यह जानते थे कि 'सर्व देव नमस्कार, केशवं प्रति गच्छति' का अर्थ क्या है? यह बात उन्होंने उस धर्मसभा में तथा बाद में अमेरिका के अन्य शहरों में दिए व्याख्यानों में स्पष्ट भी की है।

आज के इस संदर्भ में विवेकानंद किसी भी अन्य रहस्यदर्शी की तुलना में अधिक प्रासंगिक लगते हैं। संभवत: वे अकेले ही ऐसे रहस्यदर्शी हैं, जो अपने विचारों से हमें आश्वस्त करते हैं कि जगत् का मूल एक ही है और उस एक को जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है। वे कहते रहे हैं कि हम वही हैं या वही होते हैं, जो हमें हमारी सोच बनाती है।

उन्होंने यह भी कहा था—''यह विचार ही हैं, जो बहुत दूर तक यात्रा करते हैं और हमारा निर्माण करते हैं। शब्द तो बहुत गौण हैं और इस माने में भाषा भी विचारों की ही

सारथी है, शब्दों की नहीं। उन विचारों का मूल वह रहस्य दर्शन है, जो समवेत को अनुभव कर पाता है।''

उनके आज भी प्रासंगिक होने का एक कारण यह भी है कि उन्होंने धर्म या अध्यात्म को कर्मकांड का पर्याय कभी नहीं माना। उन्होंने मानव सेवा को, गरीब और पीड़ितों की सेवा को पूजा और ध्यान का स्थानापन्न माना। उनसे कई संन्यासी पूछते भी थे—ऐसी सेवा कितनी व्यावहारिक है?

इसके उत्तर में उन्होंने जो कहा था, वह कह पाना अपनी सीमाओं में बँधे व्यक्ति द्वारा कदापि संभव नहीं है। उन्होंने कहा था—''अपनी भक्ति और मुक्ति की कौन परवाह करता है? धार्मिक ग्रंथों में लिखे की किसे चिंता है? अगर मैं अपने देशवासियों को उनके पैरों पर खड़ा कर सका और उन्हें कर्मयोग के प्रति प्रेरित कर सका, तो मैं हजार नरक भोगने के लिए तैयार हूँ। मैं उनका अनुयायी हूँ, जो भक्ति या मुक्ति की परवाह किए बिना अनवरत दूसरों की सेवा और सहायता में जुटे रहते हैं।'' ऐसे मानवता के अग्रदूत स्वामी विवेकानंद सदा पूजनीय हैं। ❑

आपस में सुलझाने की अपेक्षा जो अन्यों से फैसला कराते हैं, वे सदैव घाटे में रहते हैं। सद्भाव और सहकार के अभाव में व्यक्ति अपने हाथ आई संपदा भी खो बैठता है। एक छोटे ऊदबिलाव ने पानी में घुसकर एक मोटी मछली की पूँछ पकड़ी। मछली उस ऊदबिलाव से अपने प्राणों की रक्षा हेतु अपनी पूरी ताकत लगाकर उसे पानी में खींच ले चली। स्वयं को असहाय दशा में पाकर ऊदबिलाव ने अपने एक दूसरे साथी को जोर से चिल्लाकर पुकारा। ऊदबिलाव का दूसरा साथी वहाँ दौड़ा आया और दोनों ने मिलकर उस मछली को किनारे पर लाकर पटक दिया।

अब दोनों ऊदबिलावों के समक्ष उस मछली के आपस में समान रूप से बँटवारे का प्रश्न आया तो वे दोनों आपस में उलझ गए। मछली का किसको कितना भाग मिलना चाहिए—इसका फैसला वे आपस में न कर सके। इतने में एक सियार उधर आ पहुँचा। ऊदबिलावों ने मछली के बँटवारे हेतु उसे अपना पंच बनाया। धूर्त सियार ने उस मछली के लिए उन मूर्ख-लालची ऊदबिलावों में समान बँटवारे की वही नीति अपनाई, जो दो बिल्लियों के एक रोटी के लिए लड़ने पर बंदर ने अपनाई थी। सियार तगड़ा था, अतः उस मछली को ऊदबिलावों में समान रूप से बाँटने के बहाने वह पूरी मछली चट कर गया और ऊदबिलावों को अपनी स्वयं की मूर्खता के कारणवश हाथ मलते हुए जाना पड़ा।

समस्त योग-साधनाओं का समन्वय है पूर्ण योग

यदि हम इस संसार पर दृष्टिपात करें तो यह समझते देर नहीं लगती कि आज अधिकांश लोगों का जीवन दु:ख, द्वंद्व, अशांति, उद्विग्नता, कुंठा, चिंता आदि से भरा हुआ है। हमारा जीवन अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पंचक्लेशों से भरा हुआ है। हमारे भीतर रह-रहकर बड़े ही भयावह, बड़े ही भयानक दृश्य उपस्थित हुआ करते हैं।

हमारे स्वयं के कर्म ही हमारा पीछा करते हैं, हमें डराते हैं, हमें सताते हैं। हमारे चित्त सागर में रह-रहकर दु:ख की, वेदना की, पीड़ा की बड़ी ही तेज लहरें उठा करती हैं। हम उन लहरों के बीच स्वयं को बिलकुल असहाय और बेबस पाते हैं और इसलिए रोते हैं, बिलखते हैं, सिसकते हैं, तड़पते हैं। शायद हम किसी सहारे की प्रतीक्षा में अब तक यों ही बेसहारा बैठे हैं। इसलिए दु:ख, क्लेश, वेदना व पीड़ा से हम अब तक मुक्त नहीं हो सके।

ईश्वर का प्रतिनिधि राजकुमार होते हुए भी, सुरदुर्लभ मानव तन पाकर भी हम स्वयं को असहाय समझ रहे हैं। फलत: आनंद और उल्लास से भरे जीवन को जीने के बजाय हम दीन-दु:खियों-सा जीवन जी रहे हैं, पर यदि हमें इन दु:खों से सर्वदा के लिए मुक्त होकर परम आनंद की उपलब्धि करनी है तो हम वर्तमान में जिस स्थिति में जी रहे हैं, जिस स्तर का जीवन जी रहे हैं, उससे ऊपर और बहुत ऊपर हमें उठ जाना होगा, पर साथ ही यह जानना भी बहुत आवश्यक होगा कि जाना होगा कहाँ?

मनुष्य जिस भगवान का अंश है; मनुष्य के अंदर जिस भगवान की चिनगारी है; मनुष्य जिस भगवान से आया है; मनुष्य जिस भगवान के द्वारा देवदुर्लभ मानव तन पाकर धरती पर आया है और मनुष्य जिस भगवान से वियुक्त होने के कारण अनेक क्लेशों व दु:खों को भोग रहा है, मनुष्य को उस भगवान के साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होना होगा; भगवान के सत्-चित्-आनंदस्वरूप में स्वयं को चिरप्रतिष्ठित करना होगा।

वैदिक ऋषियों ने चाहा था कि परमानंद में प्रतिष्ठित होने के लिए, परमात्मा के सत्-चित्-आनंद स्वरूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करने के लिए इस मानव जीवन को ही दिव्य रूप में रूपांतरित कर लिया जाए। फलत: समस्त साधनाओं का लक्ष्य, समस्त साधनाओं का जोर मानव जीवन को ही दिव्य रूप में रूपांतरित कर लेने पर रहा। पर परवर्ती काल में साधना का लक्ष्य यह रहा नहीं।

मानव जीवन दु:खमय है, संसार दु:खमय है, यह संसार मिथ्या है, यह संसार माया है आदि अवधारणाओं में उलझ जाने के कारण संसार का त्याग कर निर्वाण लाभ करना ही साधना का लक्ष्य बना, पर योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में यह स्पष्ट किया है कि अपने भीतर की वासना, कामना व आसक्ति का त्याग ही वास्तविक वैराग्य है, वास्तविक संन्यास है।

युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव की साधना-प्रणाली भी इसी पर केंद्रित रही कि हम गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी, भौतिक जीवन में रहते हुए भी भगवान की उपासना, सद्ज्ञान (गायत्री) की उपासना, सत्कर्म (यज्ञ) की उपासना, स्वयं की साधना व समाज की आराधना करते हुए परम पद, परमानंद, परम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि आत्मपरिष्कार की साधना का नाम ही योग-साधना है, अध्यात्म-साधना है।

हमारे वैदिक ऋषियों ने इसे स्वयं के जीवन में अपना करके हमारे समक्ष प्रस्तुत भी किया है। भारतीय ऋषियों, मनीषियों, योगियों ने अपने जीवन की, अपनी काया की प्रयोगशाला में गहन अनुसंधान-अन्वेषण करके समय-समय पर कई योग-साधनाएँ हमें दी हैं। राजयोग, हठयोग, लययोग, मंत्रयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, प्रज्ञायोग, क्रियायोग आदि विविध योग-साधनाएँ हैं।

अपनी रुचि, अभिरुचि, प्रकृति, प्रवृत्ति के अनुसार हम किसी भी योग-साधना का अवलंबन करके अपने जीवन को आनंदमय बना सकते हैं। वर्तमान समय में महानतम चिंतकों में से एक महर्षि अरविंद ने उपरोक्त सभी प्रकार की योग-साधनाओं के सार व समन्वय के रूप में एक अनोखी साधनापद्धति प्रस्तुत की है, जिसे पूर्ण योग कहते

हैं; सर्वांग योग कहते हैं; समग्र योग कहते हैं और अतिमानस योग भी कहते हैं।

पूर्ण योग में राजयोग के ध्यान, हठयोग की प्राण शक्ति, क्रियायोग के ईश्वर प्रणिधान, कर्मयोग के निष्काम कर्म, भक्तियोग के भगवत्प्रेम, ज्ञानयोग के ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान व प्रज्ञायोग के प्रज्ञा की अद्‌भुत सुगंध है, जिससे मानव जीवन सुरभित हो सकता है। पूर्ण योग सदैव सजगता में जीना है। यह अपने अंदर के झरोखे को खोलकर भगवान की ज्योति, शक्ति व आनंद को अपने भीतर भर लेने का योग है। यह व्यष्टिगत मुक्ति मात्र का नहीं, समष्टिगत मुक्ति का योग है। वास्तव में यह वैदिक ऋषियों की अध्यात्म-साधना की चरम परिणति है। यह योग इस गतिशील जगत् को स्वप्न, माया और मृग- मरीचिका नहीं, वरन ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानता है।

यह पूर्ण योग आज समस्त संसार की आवश्यकता है। क्यों? क्योंकि यह पूर्व और पश्चिम में, भूत और वर्तमान में, अध्यात्म और विज्ञान में, भौतिकता और आध्यात्मिकता में एक सेतु बन, एक अद्‌भुत सामंजस्य व समन्वय स्थापित कर ऐसा ज्योति मार्ग दिखाता है, जिसमें न तो हम अतीत के संचित धन से वंचित हों और न ही आधुनिक युग की देन को छोड़ देने के लिए बाध्य ही हों। यह भौतिकता व आध्यात्मिकता के बीच एक अद्‌भुत समन्वय है, जिसमें गृहत्याग भौतिक सुख-वैभव का त्याग नहीं, वरन अपने भीतर की वासना, कामना व आसक्ति के त्याग का आह्वान है।

युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव व श्री अरविंद दोनों ही समवेत स्वर में कहते हैं कि जीवन से भागना नहीं है, जीवन को ही कुरुक्षेत्र बनाना है, कर्म में ही भगवान को पाना और प्रकट करना है। श्री अरविंद कहते हैं कि मनुष्य के अंदर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण और मन में पूर्ण विकसित करना होगा। मानव जीवन को दिव्य रूप में रूपांतरित करना होगा और इस धरा को दिव्य धाम में रूपांतरित करना होगा। संसार में रहते हुए ही जरा, व्याधि, वासना, कामना, आसक्ति व मृत्यु को जीतकर अमृतत्व का लाभ करना होगा। मरणधर्मा मनुष्य शरीर में रहकर ही अमरता का सुधापान करना होगा। अपनी देह को ही देवालय बनाना होगा, दिव्य बनाना होगा।

वस्तुत: मानव जीवन का प्राकृत अर्थ भी तो यही है और यही समस्त आध्यात्मिक साधनाओं, घटनाओं का लक्ष्य भी है, सार भी है। जीवन का अंत मृत्यु नहीं हो सकता। जीवन से भागकर, संसार से भागकर हम स्वयं के व संसार के दोषों को दूर नहीं कर सकते। घर को सूना देखकर शैतान घुसेंगे ही। अस्तु हमें जीवन से भागना नहीं, संसार से भागना नहीं, बल्कि जीवन के झंझावातों से जूझना होगा और उन पर विजय प्राप्त करनी होगी। अपने जीवन दीप को आत्मा के आलोक से प्रदीप्त करना होगा, आलोकित करना होगा। अपनी आत्मा को परमात्मा के परम प्रकाश से प्रकाशित करना होगा।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जब तक हम शरीर, मन व बुद्धि के तल पर, स्तर पर ही जी रहे हैं, हमारा रूपांतरण संभव नहीं। अपने भीतर यह ऐक्य घटित होने देने के लिए, उसकी अनुभूति होने देने के लिए हमें अपने भीतर पूर्ण रूपांतरण घटित होने ही देना होगा। हमें अपने जीने के तरीके में आमूलचूल परिवर्तन करने ही होंगे। हमें अपनी अहंता, ममता, आसक्ति, वासना आदि को मिटाना ही होगा, पर ऐसा होगा कैसे?

इसके लिए हमें शरीर, मन व बुद्धि के स्तर से ऊपर उठना होगा। मन के स्तर से ऊपर उठ जाने को ही श्री अरविंद ने अतिमानस कहा है। मनुष्य के अंदर जब तक उस 'अतिमानस' सत्ता का आविर्भाव नहीं हो जाता, तब तक मानव जीवन को दिव्य रूप में रूपांतरित करना संभव नहीं। मन-बुद्धि की शक्ति से मनुष्य भला कितना ऊपर उठ सकता है?

दृष्टांत के रूप में हम महात्मा गांधी के कुछ निजी प्रयोग व उनके अनुभवों को ले सकते हैं। महात्मा गांधी सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कुछ व्रतों व आदर्शों का पालन किया करते थे, व उनके अनुसार जीवन जीने का अभ्यास किया करते थे, पर अपनी आजीवन साधना के फलस्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन विषयों में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। अस्तु मृत्यु की अंतिम घड़ी तक अत्यंत सावधानीपूर्वक इन नियमों, व्रतों का पालन करते रहना चाहिए, नहीं तो किसी भी क्षण शिथिलता आ जाने पर वर्षों की अर्जित साधना धूल में मिल सकती है।

इस प्रकार सर्वदा सजग होकर पहरा देते हुए कितने लोग रह सकते हैं? यह यक्षप्रश्न भी हमारे समक्ष है। इसलिए अध्यात्म-साधना, योग-साधना का लक्ष्य है कि इस अवस्था

से भी ऊपर उठकर, शरीर, मन व बुद्धि की अवस्था से भी ऊपर उठकर ऐसी अवस्था प्राप्त कर ली जाए, जहाँ से फिर कभी नीचे गिरना हो ही नहीं, जहाँ से लोभ में, मोह में, वासना में पड़ना या गिरना हो ही नहीं, जहाँ से किसी तरह का पतन हो ही नहीं।

दरअसल मनुष्य अपने एक छोटे से अंश के प्रति ही सचेतन रहता है। मन—जिसके द्वारा वह संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि—जिसके द्वारा वह सोचता और काम करता है, प्राणशक्ति—जो उसे चलाती है और जीवित रखती है और शरीर—जिसमें मन और प्राण दोनों अवस्थित हैं; यही वे सब कुछ हैं, जिन्हें मनुष्य जानता है। ये तो केवल उसकी बाह्य सत्ता हैं, उसका एक छोटा-सा अंश हैं। इसके इतर भी मनुष्य की एक विशालतम, महानतम आंतरिक सत्ता है, जिसकी बाह्य सत्ता तो वास्तव में एक प्रक्षेपण मात्र है। इसकी शक्तियाँ मन, बुद्धि व शरीर से भी अधिक महान हैं।

इस आंतरिक सत्ता की शक्ति ही नहीं, क्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। यह आंतरिक सत्ता बड़ी ही प्रभावी है। इसे ही हम आत्मा या आंतरिक सत्ता कहते हैं। इस आंतरिक सत्ता को ही श्रीअरविंद ने **'चैत्य सत्ता'** कहा है। यह चैत्य सत्ता हृदय केंद्र के पीछे अवस्थित है। इस चैत्य सत्ता की शक्तियाँ बाह्य सत्ता की अपेक्षा अनंत गुना अधिक वृहद् व व्यापक हैं और जिस अनुपात में वे प्रकट की जाती हैं और सामने लाकर सक्रिय बनाई जाती हैं—उसी अनुसार मनुष्य कम या अधिक प्रभावी व सक्षम होता है। यहीं से ज्ञान, शक्ति, सौंदर्य और आनंद की सच्ची गति-क्रियाएँ प्रवाहित होती हैं।

इस चैत्य सत्ता की अंतर्निहित क्षमताओं को प्रकट कर उसे अभिव्यक्त होने देना ही समस्त योग-साधनाओं का लक्ष्य है, पूर्ण योग का लक्ष्य है। इस शक्ति के अभिव्यक्त हो जाने पर मनुष्य का फिर नीचे गिरना नहीं होता, फिर उसका पतन-पराभव नहीं होता, फिर उसकी साधना कभी स्खलित नहीं होती; क्योंकि वह शरीर, मन, बुद्धि की अवस्था से ऊपर उठकर चैत्य सत्ता की अंतर्निहित शक्तियों को अभिव्यक्त कर उसमें सर्वदा के लिए अवस्थित हो जाता है। इसलिए अब तक जिस किसी की भी साधना खंडित हुई, वह इसलिए हुई कि वे मन, बुद्धि व शरीर के तल पर ही अटके रहे।

श्री रामकृष्ण परमहंस एक सुंदर दृष्टांत देकर इसे समझाते हुए कहते थे कि पीतल का बरतन यदि सर्वदा माँजा-धोया न जाए तो वह मैला हो ही जाता है। पर उस पीतल के बरतन को सोने में तब्दील कर देने पर फिर मैला होने का भय नहीं रहता। मनुष्य जीवनरूपी पीतल का बरतन जिस विधि से सोने में परिणत हो सकता है, वही पूर्ण योग है। वही युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव का सद्ज्ञान व सत्कर्म की उपासना, स्वयं की साधना व समाज का आराधनारूपी पूर्ण योग है।

परमपूज्य गुरुदेव कहते हैं कि शरीर, मन व बुद्धि के तल पर रहते हुए जीवन जीना, साधना करना वैसा ही है, जैसे साँप के बिल के ऊपर बैठकर साधना करना। जब तक बिल में साँप है, तब तक उसके द्वारा (कामना, वासना, लोभ, मोह, आसक्ति आदि के द्वारा) डसे जाने का भय बना हुआ है। मन, बुद्धि व शरीर के स्तर से ऊपर उठकर, आत्म सत्ता, चैतन्य सत्ता में अवस्थित हो जाने पर ही उस साँप के द्वारा डसे जाने से बचा जा सकता है। इस जगत् को द्रष्टा भाव से देखते हुए परम आनंद की पल-पल अनुभूति की जा सकती है।

यह भी सत्य है कि इस अवस्था की प्राप्ति के लिए स्वयं की साधना के साथ-साथ भागवत कृपा, भागवत स्पर्श की भी आवश्यकता है। साधना के द्वारा हम स्वयं को रूपांतरण के योग्य बना सकते हैं, अपनी पात्रता विकसित कर सकते हैं, पर रूपांतरण के लिए ऊपर से पारसमणि का स्पर्श आवश्यक है तभी हम पीतल से स्वर्ण में तब्दील हो सकते हैं, परिणत हो सकते हैं। इसलिए साधना में भागवत प्रेम, गुरु प्रेम सर्वोपरि है। इस पारसमणि का स्पर्श शक्ति या संकल्प से नहीं, वरन श्रद्धा, समर्पण से ही पाया जा सकता है। भगवद्स्पर्श हेतु आत्मा की तीव्रतम अभीप्सा भगवत् उपासना से ही प्राप्त हो सकती है।

मनुष्य की बुद्धि जिस तरह भगवान का, अव्यक्त, अनिर्वचनीय रूप देखना चाहती है—उसी तरह उसके प्राण भगवान के माधुर्य का रस-पान करना चाहते हैं। तभी उसे परम शांति प्राप्त होती है, पर यह शांति मन के भावों, भावनाओं, वासनाओं, चिंताओं और विचारों को कुचलकर नहीं प्राप्त की जाती, बल्कि साधना, संयम, श्रद्धा व समर्पण के द्वारा ऐसी स्थिति स्वत: ही आ जाती है कि यह शांति साधक के स्वभाव का एक अंग बन जाती है और ऐसे शुद्ध, शांत, निश्छल और नीरव आधार पर ही ईश्वरीय आनंद, प्रेम व ज्ञान उतरना सहज हो जाता है। ये ही पूर्ण योग का आधार है। ❑

वो-विदेशी-यात्री,-जो-प्राचीन-भारत-आए

प्राचीनकाल से ही भारतीय संस्कृति का विदेशों से आदान-प्रदान होता रहा है। इसकी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी रहे हैं वो विदेशी यात्री, जो समय-समय पर भारत आते रहे— कुछ धार्मिक एवं विद्यार्जन के उद्देश्य से, तो कुछ शासन-प्रशासन को समझने के लिए और कुछ यहाँ व्यापार की संभावनाओं को तलाशते हुए पहुँचे। इनमें से अधिकांश अपने अनुभवों एवं संस्मरणों को लिपिबद्ध कर ऐतिहासिक दस्तावेज दे गए, जो महत्त्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत के रूप में तत्कालीन समाज पर प्रकाश डालते हैं। प्रस्तुत हैं कुछ ऐसे ही विदेशी यात्रियों के विवरण, जो भारत आए और यहाँ के इतिहास की कड़ियों को अपने साहित्य के माध्यम से संरक्षित करते हुए हम तक दे गए।

मेगास्थनीज इस कड़ी में एक उल्लेखनीय नाम है, जो यूनान से चंद्रगुप्त मौर्य के समय भारत आए और 304 ई०पू० से 299 ई०पू० तक यहाँ रहे। वे चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी सम्राट सेल्युकस के राजदूत थे व यहाँ कई वर्षों तक रहे। इन्होंने भारत में जो कुछ भी देखा, उसका वर्णन 'इंडिका' नामक पुस्तक में किया। इसमें मौर्यकालीन भारत का वर्णन मिलता है तथा यूनान के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों की जानकारी मिलती है। मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र का बहुत सुंदर वर्णन किया था। उसके अनुसार— भारत का सबसे बड़ा नगर पाटलिपुत्र चारों ओर दीवारों से घिरा था, जिसमें अनेक फाटक और दुर्ग बने हुए थे। नगर में अधिकांश घर लकड़ियों के बने हुए थे।

फाह्यान 399 ई० से 414 ई० के बीच भारत में आने वाले पहले चीनी यात्री थे। वे एक चीनी बौद्ध भिक्षु थे, जो विक्रमादित्य अर्थात चंद्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आए। वे बुद्ध की जन्मस्थली लुंबिनी की यात्रा के लिए जाने जाते हैं। फाह्यान ने 15 वर्षों तक यहाँ रहकर बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन किया। उनकी यात्राओं का उल्लेख उनकी पुस्तक बौद्ध राज्यों के अभिलेख में देखा जा सकता है। इसमें गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति का वर्णन मिलता है।

ह्वेन-त्सांग दूसरे चीनी यात्री थे, जो हर्षवर्धन के काल में भारत आए, जिनकी यात्राओं का वर्णन उनकी पुस्तक सि-यु-की अर्थात दि रिकॉर्ड्ज ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड में पढ़ा जा सकता है। ये 629 ई० से 643 ई० तक लगभग 13 वर्ष तक भारत में निवास करते हुए नालंदा विश्वविद्यालय में रहकर अध्ययन करते रहे। कुछ समय ये हर्षवर्धन के दरबार में भी रहे व हर्षवर्धन को शिलादित्य की उपाधि से विभूषित भी किया। ह्वेन-त्सांग के संस्मरणों से पता चलता है कि हर्षवर्धन एक परिश्रमी और परोपकारी शासक थे, जो कला, साहित्यसृजन और ज्ञानार्जन को सदा प्रोत्साहन देते थे।

ह्वेन-त्सांग के बाद अन्य चीनी यात्री इत्सिंग भारत आए, जो यहाँ 671 ई० से 695 ई० तक रहे। ये भी बौद्ध धर्म व इसकी ज्ञानसंपदा को जानने के उद्देश्य से भारत आए थे। इन्होंने नालंदा विश्वविद्यालय में 10 वर्ष तक अध्ययन किया तथा त्रिपिटकों की लगभग 400 प्रतियाँ अपने साथ ले गए। इनकी पुस्तक भारत तथा मलय द्वीपपुंज में प्रचलित बौद्ध धर्म के विवरण को बौद्ध धर्म तथा संस्कृति साहित्य के इतिहास का स्रोत माना जाता है। इनकी पुस्तक 'प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुओं की आत्मकथाएँ' में समकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति का विस्तृत विवरण मिलता है। इत्सिंग 675 ई० में सुमात्रा से होकर समुद्र मार्ग से भारत आए थे और इन्होंने नालंदा एवं विक्रमशिला विश्वविद्यालय के साथ उस समय के भारत पर भी प्रकाश डाला।

अल बेरुनी एक फारसी विद्वान थे, जो महमूद गजनवी के सोमनाथ आक्रमण के समय भारत आए। ये 1024 ई० से 1030 ई० के बीच भारत में रहे। ये भारत का अध्ययन करने वाले प्रथम इस्लामी विद्वान थे। यहाँ रहते हुए इन्होंने खगोल विद्या, संस्कृत तथा रसायन विद्या का अध्ययन किया। इनकी पुस्तक तहकीक-ए-हिंद में 11वीं शताब्दी के भारत की स्थिति का वर्णन पढ़ा जा सकता है। अल बेरुनी द्वारा लिखी गई कुल 14 पुस्तकों में 'किताब उल हिंद' सबसे लोकप्रिय

पुस्तक है। इस पुस्तक को दक्षिण एशिया के इतिहास का एक प्रमुख स्रोत माना जाता है।

इब्नबतूता मोरक्को मूल के अफ्रीकी यात्री थे, जो मुहम्मद बिन तुगलक के सल्तनत काल में भारत आए और 1333 ई० से 1347 ई० तक यहाँ रहे। भारत में उत्तर पश्चिम से प्रवेश करते हुए ये सीधे दिल्ली पहुँचे, जहाँ सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने इनका बहुत आदर-सत्कार किया और इन्हें दिल्ली का प्रधान काजी नियुक्त किया। 1342 ई० में इन्हें सुल्तान का राजदूत बनाकर चीन भेजा गया। 1345 ई० में ये मदुराई के सुल्तान के दरबार में गए। इनकी यात्राओं के संस्मरण 'किताब उल रेहला' नामक पुस्तक में पढ़े जा सकते हैं।

मार्को पोलो वेनिस के निवासी इटली के एक प्रसिद्ध यात्री थे, जिन्हें मध्यकालीन यात्रियों का राजकुमार कहा जाता है। ये एक व्यापारी, अनुसंधानकर्त्ता और राजदूत थे, जिन्होंने भारत के साथ कई अन्य पूर्वी देशों का भ्रमण किया। ये रेशम मार्ग की यात्रा करने वाले प्रथम यूरोपियनों में से एक थे। वेनिस से प्रारंभ इनकी यात्रा में वह कुस्तुनतुनिया से वोल्गा तट, सीरिया, फारस, कराकोरम, बुखारा, स्टेपी के मैदानों से होते हुए पीकिंग पहुँचे। साढ़े तीन वर्षों में इनकी यह यात्रा पूरी हुई थी।

1292 ई० से 1293 ई० के बीच ये भारत में रहे। भारत में इन्होंने पांड्य नरेश मालवर्मन कुलशेखर के शासनकाल में दक्षिण भारत की यात्रा की। इनकी पुस्तक 'दि ट्रेवल ऑफ मार्को पोलो' में पांड्य शासन की समृद्धि, विदेश व्यापार एवं न्याय व्यवस्था पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। पता चलता है कि पांड्य राज्य मावर मोतियों के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ काकतीय वंश की रुद्रम्मा देवी के शासन का भी वर्णन मिलता है।

निकोलो कोंटी इटली का यात्री था, जो विजयनगर आने वाला पहला विदेशी यात्री था। राजा देवराय के शासनकाल में 1420 ई० से 1421 ई० में यह भारत आया था। मुस्लिम व्यापारी के वेश में ये इटली से भारत पहुँचा और दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन तक की यात्रा इसने की। लेटिन भाषा में अपने यात्रा वृत्तांतों को इसने लिपिबद्ध किया, जिसमें यहाँ के शहर, राजदरबार और त्योहारों का वर्णन मिलता है। इसी तरह फारसी विद्वान अब्दुल रजाक विजयनगर के देवराय द्वितीय के शासनकाल में 1442-1445 ई० के दौरान भारत आए थे। ये कालीकट के शासक के यहाँ फारस के शासक के राजदूत थे।

कैप्टन विलियम हॉकिंस ने 1609 ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी की पहली समुद्री यात्रा का नेतृत्व किया था। ये जहाँगीर के दरबार में विलियम जेम्स प्रथम के राजदूत थे। ये अँगेरजों के व्यापारिक अधिकारों की रक्षा के लिए भारत आए थे। सर टॉम्स रो जहाँगीर के दरबार में आने वाले दूसरे अँगरेज शिष्टमंडल के नायक थे, जो 1615 ई० से 1619 ई० के बीच यहाँ रहे। ये माण्डू और अहमदाबाद की यात्रा के दौरान जहाँगीर के साथ थे।

इनकी पूर्वी द्वीपों की यात्रा नामक विवरण में मुगल दरबार के षड्यंत्रों एवं धोखाधड़ी का विवरण मिलता है। फ्रेंकोइस वर्नियर एक फ्रांसीसी यात्री एवं चिकित्सक थे, जिन्होंने 1658 ई० से 1671 ई० के दौरान भारत का भ्रमण किया। ये लगभग 12 वर्षों तक मुगल सम्राट औरंगजेब के निजी चिकित्सक रहे। इनकी पुस्तक 'ट्रैवल इन दि मुगल एम्पायर' में दारा शिकोह एवं औरंगजेब के काल का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। इसी तरह थॉमस रो की पुस्तक 'जर्नल ऑफ दि मिशन टू दि मुगल एम्पायर' तत्कालीन भारतीय इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है।

इस तरह ये विदेशी यात्री विभिन्न उद्देश्यों से भारत आए, यहाँ के समाज को इन्होंने नजदीक से देखा और अपने अनुभवों को कलमबद्ध करते हुए तत्कालीन इतिहास के महत्त्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत इन्होंने हमें प्रदान किए, जिनके आधार पर हमें उस समय के समाज, शासन, रहन-सहन, लोकजीवन व संस्कृति आदि की जानकारी उपलब्ध होती है। ❑

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम्॥ — ***सुभाषितरत्न भांडागार***

अर्थात उच्च मन वाले मनस्वी मनुष्य मर भले ही जाएँ, परंतु वे कभी भी कृपणता तथा कायरता नहीं करते, जैसे अग्नि बुझ भले ही जाए, पर शीतल नहीं होती।

प्रकृति की सेवा व सुरक्षा ही है प्रकृति की सच्ची पूजा

भारतीय संस्कृति में प्रकृति व पर्यावरण को विशेष महत्त्व दिया गया है और ऐसा हो भी क्यों न? क्योंकि प्रकृति परमात्मा की भौतिक अभिव्यक्ति ही तो है। यह जगत्, यह सृष्टि, यह प्रकृति परमात्मा के द्वारा ही तो रचित है। स्वयं मनुष्य भी तो प्रकृति का ही अंग-अवयव है। मनुष्य का निर्माण भी तो प्राकृतिक तत्त्वों से ही हुआ है। मानसकार ने कहा है—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥

अर्थात—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच तत्त्व हैं, जिनसे शरीर बनता है। इन पाँच तत्त्वों में से जो ज्यादा स्थूल है, वह पृथ्वी तत्त्व है। इसमें शेष चारों तत्त्व मौजूद हैं। कोई भी प्राणी तब तक स्वस्थ रहता है, जब तक पाँचों तत्त्व अपने-अपने अनुपात से मौजूद रहते हैं और जब तक पाँचों तत्त्व शुद्ध अवस्था में होते हैं। जब इन तत्त्वों में कमी या अशुद्धि होती है तो प्राणी में विकार आ जाता है और वह रोगी हो जाता है। इसलिए तो प्राकृतिक उपचार में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि तत्त्वों का उपयोग किया जाता है। यों अन्न और औषधियाँ भी इन तत्त्वों से ही भरे पड़े हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति के बिना मनुष्य का अस्तित्व ही असंभव है। प्रकृति न सिर्फ मनुष्य का निर्माण करती है, बल्कि उसके जीवनयापन के लिए, उसके जीवन को बनाए रखने के लिए अन्न, जल, वस्त्र, वायु, औषधि आदि सब कुछ प्रदान करती है।

इसीलिए प्रकृति को माँ की उपमा दी गई है। प्रकृति माँ बनकर माँ की तरह ही हमें जीवन देती है और हमारे जीवन को जीवन भर पोषण भी प्रदान करती है, इसलिए तो वैदिक वाङ्मय में वसुंधरा, सूर्य, वायु, जल, आकाश आदि प्राकृतिक शक्तियों की भावपूर्ण स्तुति की गई है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त के रचयिता वैदिक ऋषियों ने तो स्पष्ट उद्घोष किया है—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।

अर्थात वसुंधरा जननी है, हम सब उसके पुत्र हैं। यहाँ वसुंधरा (पृथ्वी) का अर्थ है—पहाड़, पौधे, मरुस्थल, पर्वत, महासागर, नदियाँ, झीलें, वृक्ष, चट्टानें, खनिज पदार्थ, जलवायु, मौसम और ऋतुएँ आदि।

इस प्रकार मनुष्य पृथ्वी की देन है, प्रकृति की देन है और वह पृथ्वी के बिना, प्रकृति के बिना जीवित भी नहीं रह सकता। पर्यावरण व प्रकृति के महत्त्व को देखते हुए ही हमारे ऋषियों व शास्त्रों ने प्रकृति व पर्यावरण के संरक्षण पर बल दिया है। दरअसल प्रकृति की पूजा का आशय प्रकृति के प्रति सम्मान, संवेदनशीलता व संरक्षण की भावना से ही है।

वृक्ष, जल, वायु, पर्वत, सूर्य आदि की पूजा-उपासना का मूल दर्शन यही है कि हम प्रकृति की तरह निश्छल, निष्पाप व पवित्र बनें। हम प्रकृति की तरह परोपकारमय जीवन जिएँ। हम प्रकृति की तरह संवेदनशील बनें, प्रकृति व स्वयं के अस्तित्व के लिए भी, प्रकृति की पूजा अर्थात प्रकृति का सम्मान करें, संरक्षण करें। यदि प्रकृति सुरक्षित है, संरक्षित है तभी हम सुरक्षित हैं, संरक्षित हैं। वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता, कुरान, बाइबिल, श्रीगुरुग्रंथ साहब तथा अन्य धर्मग्रंथों में भी प्रकृति के प्रति संवेदनशील होने की बातें कही गई हैं।

जीवनयापन की सारी चीजों की पूर्ति हमें प्रकृति के माध्यम से ही होती है। इसलिए प्राकृतिक तत्त्वों को संरक्षित रखने के लिए उन्हें किसी-न-किसी त्योहार, देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना से जोड़ा गया है। औषधि के रूप में फलों तथा जड़ी-बूटियों की रक्षा करने की बातें कही गई हैं। पीपल, नीम, तुलसी, आँवला आदि पर्यावरण संरक्षित करने वाले पौधों, वृक्षों को, पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए अपने आस-पास लगाने व उनकी पूजा करने की बातें कही गई हैं।

सूर्य जगत् की आत्मा है, सूर्य के बिना जीवन संभव नहीं है अस्तु सूर्य तो साक्षात् देव हैं, प्रत्यक्ष देव हैं, जिनकी ऊर्जा से पूरा जगत्, प्राणिजगत् व वनस्पति

जगत् उर्जस्वित हैं। अस्तु सूर्य की पूजा का विधान है। वायु ही प्राणवायु बनकर हमारी नाड़ियों में प्रवाहित होती है। जल के बिना भी जीवन कहाँ संभव है? इसलिए नदियों व सरिताओं, सागरों की पूजा की हमारे यहाँ महान परंपरा रही है। यहाँ पूजा से तात्पर्य उन्हें सुरक्षित व प्रदूषणमुक्त बनाए रखना भी है। यही उनकी वास्तविक पूजा व सम्मान है।

निस्संदेह मनुष्य के जीवन को बनाए रखने व सफल बनाने में प्रकृति का महान योगदान है। मनुष्य के उपचार के लिए औषधि, पंचतत्त्व; उदरपूर्ति के लिए अन्न, जल, कंद-मूल, फल, शाक-सब्जी; शरीर ढकने के लिए वस्त्र; उद्योग के लिए कच्चा माल; भूमि को उपजाऊ तथा भूस्खलन से बचाने में पेड़-पौधे व प्रकृति की ही महान भूमिका है। कार्बन-डाइऑक्साइड को हमारे लिए अमृत (ऑक्सीजन) में परिवर्तित पेड़-पौधे ही तो करते हैं।

पूजा, हवन, यज्ञ करने में पुष्प, फल, समिधा आदि की पूर्ति हमें प्रकृति ही करती है। पेड़-पौधों में देवी-देवताओं का वास बतलाया गया है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि 'मैं वृक्षों में पीपल हूँ।' तुलसी का पौधा स्वयं विष्णुप्रिया के रूप में पूजनीय है। वटवृक्ष में भगवान शिव का वास बताया गया है। अस्तु वृक्षों का, पौधों का औषधीय महत्त्व होने के साथ-साथ धार्मिक, आध्यात्मिक महत्त्व भी है। प्रकृति का पूजन, संरक्षण हमारे भौतिक जीवन के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन के लिए भी उतना ही आवश्यक है।

हमारे अधिकांश तीर्थस्थल प्रकृति की सुरम्य वादियों में स्थित हैं; सिंधु-सरिताओं, सागरों के किनारे स्थित हैं। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तीर्थों की शृंखला- सी बनी हुई है। प्रकृति के इस दिव्य-पवित्र वातावरण में रहते हुए मनुष्य भी दिव्य व पवित्र होने लगता है। प्रकृति की निष्पापता, निश्छलता, निष्कपटता, सौम्यता व पवित्रता मनुष्य को भी अपने इन दिव्य गुणों से भर देती है।

इसलिए ऋषियों के आश्रम, आरण्यक आदि के विवरण प्रकृति के बीच उपस्थिति के रूप में मिलते हैं, जिससे कि वे वहाँ के निश्छल व सौम्य वातावरण में जप, तप, ध्यान आदि के द्वारा आध्यात्मिक प्रगति के शीर्ष को छू पाया करते थे एवं अपने जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया करते थे।

भौतिकता की अंधी दौड़ में दौड़ते हुए जब व्यक्ति थक जाता है, दुःखी हो जाता है, निराश हो जाता है तो वह भी अंततः प्रकृति माता की गोद में बैठकर ही स्वयं को फिर से तरोताजा कर पाता है। प्रकृति के नैसर्गिक सौंदर्य को देखकर मानव मन को असीम शांति मिलती है। खिले हुए, झूमते हुए रंग-बिरंगे पुष्प, नदियों की कल-कल बहती हुई जलधार, सागर में उठती हुई लहरों को देखकर, उगते हुए, अस्त होते हुए सूरज के सौंदर्य को देखकर, पूनम के चाँद को देखकर हमें मानसिक शांति व आत्मिक आनंद की अनुभूति होती है। ऐसे दिव्य, शांत, निष्पाप क्षेत्र में रहकर व्यक्ति ध्यान, जप, तप में शीघ्र ही उन्नति करने लगता है।

पेड़ों-नदियों, तालाबों, पहाड़ों, गुफाओं, कंदराओं के किनारे बैठकर ही हमारे ऋषियों, तपस्वियों, चिंतकों व साधु-संतों ने ज्ञान-अर्जन किया और धार्मिक-आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की। पर्वतों पर प्राणदायिनी संजीवनी जड़ी-बूटियों का खजाना है, इसलिए पर्वतों की पूजा का विधान हमारे यहाँ है। कई नदियों का जलस्रोत हिमालय आदि पर्वत हैं, इसलिए वे भी साक्षात् देवतुल्य ही हैं।

आज गंभीर चिंता व चिंतन की बात है कि मनुष्य ने प्रकृति का अंधाधुंध दोहन करके प्रकृति के साथ-साथ स्वयं अपने अस्तित्व के लिए भी खतरा पैदा कर दिया है। पेड़-पौधों की कटाई, औद्योगिक कचड़ों के द्वारा जल, वायु, मिट्टी का प्रदूषित किया जाना बदस्तूर जारी है। रासायनिक खेती के द्वारा भूमि का प्रदूषित होना बदस्तूर जारी है।

पर्यावरण प्रदूषण के दुष्परिणाम आज हमें ग्लोबल वार्मिंग, जलवायु परिवर्तन, अम्लीय वर्षा, ओजोन परत के क्षतिग्रस्त होते जाने के रूप में देखने को मिल रहे हैं। प्राकृतिक आपदाएँ कहर बरपा रही हैं। आज जल संकट वैश्विक संकट बनकर उभरा है। पेड़-पौधों के अभाव में प्राणवायु की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि ने विभिन्न शारीरिक व मानसिक बीमारियों को जन्म दिया है। आज मनुष्य उसी वृक्ष को काटने पर तुला है, जिसकी डाली पर वह स्वयं बैठा है।

आज मनुष्य उस जल को ही दूषित करने लगा है, उस जलस्रोत को ही दूषित करने लगा है, जो उसके जीवन के लिए अमृत है। उस वायु को ही दूषित करने

लगा है, जो प्राणवायु बनकर उसकी साँसों में बहती व स्पंदित होती है। आज लोगों के हाथों में बिस्लेरी पानी की बोतलें दिखाई पड़ रही हैं। यदि कल को उनके हाथों में ऑक्सीजन की बोतलें दिखाई पड़ने लगें तो कोई आश्चर्य नहीं।

वास्तव में प्रकृति हमारी आवश्यकताएँ तो पूरी कर सकती है, पर हमारे लालच एवं हवस को नहीं। जैसा कि कहा गया है—'नेचर केन फुलफिल आवर नीड बट नॉट आवर ग्रीड'। हमारी असंवेदनशीलता, अज्ञानता, अशिक्षा व बढ़ती हुई आबादी ही इन सबके लिए जिम्मेदार है। इसमें व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व सब शामिल हैं। अस्तु इसमें व्यक्ति, राष्ट्र व विश्व सबकी सामूहिक जिम्मेदारी है कि हम प्रकृति को, पर्यावरण को सुरक्षित व संरक्षित रखें।

वर्तमान समय में वृक्षारोपण को अधिक-से-अधिक बढ़ावा देने की आवश्यकता है। जन्मदिवस, विवाह दिवस, पुण्य दिवस एवं अन्य अवसरों पर पौधारोपण, वृक्षारोपण की परंपरा विकसित किए जाने की परम आवश्यकता है। पेट्रोल व डीजल पर चलने वाली गाड़ियों, मशीनों व कारखानों के लिए सौर ऊर्जा व अन्य प्राकृतिक ऊर्जा जैसे विकल्प तैयार किए जाने की अविलंब आवश्यकता है।

रासायनिक खेती की जगह जैविक खेती, प्राकृतिक खेती पर जोर देने की जरूरत है। इससे हम जल, वायु आदि को दूषित होने से बचा सकेंगे। दीपावली एवं अन्य पर्व-त्योहारों को भी पटाखे फोड़कर मनाने के बजाय, घी के दीये जलाकर पर्यावरण अनुकूल बनाने की आवश्यकता है। होली एवं अन्य पर्व-त्योहारों को भी पर्यावरण अनुकूल बनाकर हम स्वयं व प्रकृति के ऊपर बहुत बड़ा उपकार कर सकते हैं।

जलाशयों को हर हाल में हमें प्रदूषणमुक्त रखना है। विकसित एवं विकासशील देशों के औद्योगिक विकास के नाम पर छोड़ी जा रही कार्बन उत्सर्जन की मात्रा कम-से-कमतर होती जानी चाहिए और इस हेतु सौर ऊर्जा जैसी वैकल्पिक ऊर्जा की खोज की जानी चाहिए। आज आबादी को भी नियंत्रित किए जाने की अविलंब आवश्यकता है और इसके लिए व्यक्ति, समाज व सरकार सबको सामूहिक रूप से प्रयास-पुरुषार्थ करना होगा।

पर्यावरण की सुरक्षा के लिए सिंगल यूज प्लास्टिक के निर्माण के प्रयोग पर सख्ती से पाबंदी लगाए जाने की जरूरत है। हमारे पाठ्यक्रमों में स्कूली स्तर से ही पर्यावरण अध्ययन को शामिल किए जाने की आवश्यकता है, जिससे हम बचपन से ही प्रकृति के महत्त्व को समझ सकें और प्रकृति के प्रति संवेदनशील व्यवहार कर सकें।

प्रकृति के प्रति हम संवेदनशील हो सकें इसके लिए हम धार्मिक हों-न-हों, आस्तिक हों-न-हों, पर हमें आध्यात्मिक अवश्य ही होना चाहिए। संवेदनशील होना ही आध्यात्मिक होना है। आध्यात्मिक व्यक्ति ही संवेदनशील हो सकता है। आध्यात्मिक व्यक्ति ही किसी के सुख-दुःख को आसानी से अनुभव कर सकता है और उसकी सेवा कर सकता है। हमें अपनी जीवनशैली में अध्यात्म को अर्थात सेवा, संयम, संवेदना, निश्छलता, निष्कपटता, निष्पापता, पवित्रता को शामिल करना ही चाहिए, जिससे कि हम प्रकृति के प्रति संवेदनशील हो सकें।

आध्यात्मिक व्यक्ति की आवश्यकताएँ कम होती जाती हैं। वह न्यूनतम में अपना जीवन निर्वाह कर पाता है। वह संकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठकर समष्टिगत हित में सोचता है। वह **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** व **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना में विश्वास करता है। वह व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र व विश्व के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को समझता है और उनका बखूबी निर्वहन भी करता है।

अस्तु आध्यात्मिक होकर ही, संवेदनशील होकर ही हम प्रकृति के प्रति संवेदनशील हो सकते हैं और सही माने में प्रकृति की पूजा, सम्मान व संरक्षण कर सकते हैं। हम प्रकृति की व्यथा को, दरद को महसूस कर सकते हैं। पौधों के ऊपर किए गए अपने वैज्ञानिक प्रयोग में जगदीश चंद्र बसु ने यह माना है कि पौधे संवेदनशील होते हैं। वे दरद महसूस कर सकते हैं, स्नेह अनुभव कर सकते हैं।

इस संदर्भ में एक बड़ी रोचक कथा है। एक दिन गौतम बुद्ध एक वृक्ष को नमन कर रहे थे। यह देखकर उनके एक शिष्य को बड़ी हैरानी हुई। उसने बुद्ध से पूछा—"भगवन्! आपने इस वृक्ष को नमन क्यों किया?" शिष्य की बात सुनकर बुद्ध बोले—"क्या इस वृक्ष को नमन करने से कुछ अनहोनी हो गई?" बुद्ध का प्रश्न सुनते ही शिष्य बोला—"नहीं भगवन्! ऐसी बात नहीं है, किंतु मुझे यह

देखकर हैरानी हुई कि आप जैसा महान व्यक्ति इस वृक्ष को नमस्कार क्यों कर रहा है ? वह वृक्ष न तो आपकी बात का जवाब दे सकता है और न ही आपके नमन करने पर खुशी दिखा सकता है।''

इस पर भगवान बुद्ध मुस्कराए और बोले—''वत्स! तुम गलत सोच रहे हो। वृक्ष भले ही बोल न पाते हों, पर जैसे हरेक व्यक्ति के शरीर की अपनी भाषा होती है, उसी तरह से प्रकृति और वृक्षों की भी एक अलग भाषा होती है। अपना सम्मान होने पर ये झूमकर प्रसन्नता और कृतज्ञता, दोनों व्यक्त करते हैं। इस वृक्ष के नीचे बैठकर मैंने साधना की, इसकी पत्तियों ने मुझे शीतलता दी, मुझे धूप से बचाया। इसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना मेरा कर्त्तव्य है। सभी को प्रकृति के प्रति हमेशा कृतज्ञ बने रहना चाहिए; क्योंकि प्रकृति ही हमें सुंदर और सुघड़ जीवन देती है।''

फिर शिष्य को वृक्ष की ओर देखने का इशारा करके बुद्ध बोले—''तुम जरा इस वृक्ष की ओर देखो कि इसने मेरे धन्यवाद को कितनी खूबसूरती से लिया है और जवाब में मुझे झूमकर बता रहा है कि आगे भी वह सभी की यों ही सेवा करता रहेगा।'' बुद्ध की बात पर शिष्य ने वृक्ष को देखा तो उसे लगा कि सचमुच वृक्ष एक अलग ही मस्ती में झूम रहा है, उसकी झूमती हुई पत्तियाँ, शाखाएँ और फूल मन को एक अद्‌भुत शांति-सी दे रहे हैं। यह देखकर शिष्य स्वयं ही वृक्ष के सम्मान में झुक गया।

प्रकृति का जीवन पूर्णत: परोपकारमय है। प्रकृति हमें भी परोपकारमय जीवन जीने का संदेश देती है। सचमुच आध्यात्मिक दृष्टिसंपन्न व्यक्ति ही प्रकृति के सुख-दु:ख को अनुभव कर सकता है। अपनी पुस्तक 'सुनसान के सहचर' में युगऋषि परमपूज्य गुरुदेव ने प्रकृति को ही अपना सहचर कहा है। हिमालय की यात्रा में उनके साथ और कोई नहीं, बल्कि वे स्वयं हैं और उनके साथ पेड़-पौधे, वनस्पतियों, झरनों, नदियों, पहाड़ों, हवाओं के रूप में स्वयं प्रकृति है, जो उनके सहचर हैं, साथी हैं। यात्रा के दौरान गुरुदेव के मनोभावों को प्रकृति समझ रही है और प्रकृति के सुख-दु:ख को, प्रकृति की दैहिक भाषा को गुरुदेव समझ रहे हैं। अस्तु गुरुदेव अपनी यात्रा में अपने भावों, विचारों को प्रकृति के साथ साझा करते चलते हैं।

व्यक्ति की पवित्रता जितनी अधिक बढ़ती जाती है, वह उतना ही प्रकृति के नजदीक होता चला जाता है। वह प्रकृति को अपने भीतर उतना ही अधिक उतारता जाता है, अनुभव करता जाता है, महसूस करता जाता है और प्रकृति भी फिर पल-पल उसकी रक्षा करती है। अस्तु यदि हम सचमुच ही प्रकृति से प्रेम करना चाहते हैं, प्रकृति की पूजा करना चाहते हैं तो हमें भी निष्पाप, निश्छल, निष्कपट व पवित्र होना चाहिए।

हमें भी संवेदनशील होना चाहिए; क्योंकि संवेदनशील होकर ही हम प्रकृति की सच्ची सेवा कर सकते हैं, प्रकृति का संरक्षण कर सकते हैं और प्रकृति को प्रदूषणमुक्त रखने में अपना सब कुछ अर्पित, समर्पित कर सकते हैं।

वास्तव में यही है प्रकृति की पूजा; प्रकृति का सम्मान; प्रकृति का आदर; प्रकृति का सत्कार, जिसे हमें स्वयं व समष्टिगत हित में करना ही चाहिए। यही है प्रकृति के प्रति हमारी सच्ची पुष्पांजलि। साथ ही यह हमारा मानवीय कर्त्तव्य भी है, राष्ट्रीय कर्त्तव्य भी है और वैश्विक कर्त्तव्य भी है। ❑

अखण्ड ज्योति पत्रिका हेतु बैंक खातों का विवरण

Beneficiary –	Akhand Jyoti Sansthan	I.F.S. Code	Account No.
S.B.I.	Ghiya Mandi Mathura	SBIN0031010	51034880021
P.N.B.	Chowki Bagh Bahadur, Mathura	PUNB-0183800	1838002102224070
I.O.B.	Yug Nirman Tapobhoomi, Mathura	IOBA0001441	144102000000006

विदेशी धन बैंक में सीधे जमा न करें, ड्राफ्ट द्वारा भेजें।

जमा रसीद की प्रति एवं विवरण ई-मेल, पत्र द्वारा भेजें; अन्यथा राशि का समायोजन नहीं हो पाएगा।

चेतना की शिखर यात्रा – 231

साधना स्वर्ण जयंती

विगत अंक में आपने पढ़ा कि सन् 1975 की गीता जयंती के अवसर पर पूज्य गुरुदेव द्वारा एक लाख गायत्री साधकों के माध्यम से विशिष्ट साधना के प्रयोग को कराए जाने की घोषणा की गई। हिमालय की दिव्य सत्ता के परोक्ष निर्देशन व पूज्यवर के प्रत्यक्ष सान्निध्य में वसंत पर्व से आरंभ होने वाली इस पुरश्चरण साधना की समुचित जानकारी अखण्ड ज्योति में भी प्रकाशित हुई। उत्साही व निष्ठावान साधकों में पश्चिम बंगाल के कृष्णानंद चट्टोपाध्याय, जिन्होंने पूज्यवर के निर्देशन में प्राण-प्रत्यावर्तन साधना को हाल ही में सफलतापूर्वक संपन्न किया था, उन्हें एक विलक्षण घटना का साक्षी बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अपने घर के निकट अवस्थित एक मंदिर में कुछ लोगों के मध्य संत समुदायों में उपस्थित ईश्वरीय गुणों को लेकर की जा रही चर्चा ने बहस का रूप ले लिया, किंतु तभी किसी अज्ञात साधु द्वारा उस बीच हस्तक्षेप हुआ। महापुरुषों एवं संतों के माध्यम से ईश्वरीय संदेशों के प्राकट्य की बात को समर्थन देते व उस तथ्य को बड़े ही प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करते हुए साधु ने वहाँ उपस्थित लोगों का समाधान किया। आइए पढ़ते हैं इसके आगे का विवरण.....

साधकों से चर्चा कर रहे उन साधु ने दिगंबर संन्यासी को प्रणाम किया। उनके देखा-देखी दूसरे साधकों या सत्संगियों ने भी प्रणाम किया। दिगंबर संन्यासी ने कोई भी अभिव्यक्ति दिए बिना उन साधकों का अभिवादन स्वीकार किया और बोले—''यहाँ उपस्थित साधकों में से कितने लोग भजन-पूजन करते हैं?''

सुनकर चार व्यक्तियों ने हाथ उठाए। कृष्णानंद ने भी हाथ उठाया। उन दिगंबर साधु ने कृष्णानंद को इंगित कर कहा—''तुम अपने हाथ नीचे कर लो। तुम भजन-पूजन नहीं कर रहे हो, वृथा ही हाथ उठा दिए।'' इस पर वहाँ मौजूद साधकों में से कुछ को हँसी आ गई। संन्यासी ने उन लोगों के हँसने पर कुछ नहीं कहा। इस पर कृष्णानंद ने कहा—''मगर प्रभु मैं तो कई वर्षों से प्रात:काल उठकर नियमित उपासना करता हूँ। मैंने अपने गुरु से दीक्षा लेने के बाद उनसे उपासना का विधान सीखा है। उसी का अभ्यास कर रहा हूँ।''

यह सुनकर दिगंबर संन्यासी ने कहा—''लेकिन यह घोषणा करना जरूरी नहीं है कि तुम भजन-पूजन करते हो। तुम्हें तो तुम्हारे गुरु ने इसके लिए चुना है। जब उन्होंने स्वयं चुना है तो तुम्हारे करने या नहीं करने का कोई अर्थ नहीं है। मैंने तो अनायास ही भजन-पूजन करने वालों के बारे में पूछा था।''

इसके बाद दिगंबर संन्यासी ने साधना, सिद्धि, साधु-संतों की दिव्य क्षमताओं और ईश्वरीय गुणों के बारे में क्या कहा, क्या नहीं? कृष्णानंद को कुछ नहीं सुनाई दिया। वह दिगंबर योगी के एक वक्तव्य को सुनकर ही अपने पथ प्रदर्शक की स्मृति में, उनके गुणों और भावों में खो गया।

गीता जयंती पर साधना स्वर्ण जयंती की घोषणा के करीब दो माह बाद कहा गया था कि इस शृंखला में एक लाख साधकों की संख्या पूरी होने के बाद नए साधकों का समावेश नहीं किया जाएगा। उन साधकों का चुनाव वसंत पंचमी से पहले ही कर लिया जाएगा। संख्या पूरी होने के बाद अन्य इतने लोग भी यह साधनाक्रम अपना सकते हैं, लेकिन विशेष संरक्षण और अनुदान प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रतीक्षा करनी होगी। अपने को इस योग्य बनाने के लिए उन साधकों को साधना में श्रम करना होगा और प्रतीक्षा भी।

इस प्रतिबंध ने कई साधकों को व्यथित किया। उनकी शिकायत थी कि इस अवसर से उन्हें क्यों वंचित किया जा

रहा है ? शिकायत करते हुए उन परिजनों ने वंदनीया माताजी को पत्र लिखे, उनसे भेंट का अवसर मिलने पर कहा भी सही। शांतिकुंज में चलने वाले साधना शिविरों में पहुँचे ऐसे लोगों ने गुरुदेव के सामने भी अपना दुखड़ा रोया। उन साधकों को उनकी मन:स्थिति और आवश्यकता के अनुसार समझा दिया गया, लेकिन ऐसे साधक भी थे, जिनकी आंतरिक स्थिति विकसित थी। नहीं चुने जाने का कोई कारण नहीं था, लेकिन उन्हें स्वर्ण जयंती साधना मंडली में नहीं चुना गया।

आंध्र प्रदेश में मुबारकपुर के साधक जगन तारक इसी तरह के साधक थे। उन्होंने 1958 में गुरुदेव से दीक्षा ली थी और वे प्रात-सायं दोनों समय ब्रह्मसंध्या करते थे। सूर्योदय और सूर्यास्त के निर्धारित समय अनुशासन का उन्होंने सदा पालन किया। रोग बीमारी की अवस्था में या यात्रा में रहने के समय भले ही कभी व्यवधान हुआ हो, अन्यथा ऐसी स्थिति कभी नहीं आई कि नियम-अनुशासन टूटा हो।

जगन तारक के संबंध में विदाई सम्मेलन के समय 1971 में गुरुदेव ने कहा था—''वे निष्ठापूर्वक कदम-से-कदम मिलाकर चल रहे हैं। पिछले चौदह वर्षों में उन्होंने सभी निर्देशों का निष्ठापूर्वक पालन किया। चाहे वे आत्मिक प्रगति के लिए दिए गए हों या समाज- साधना के लिए।'' गुरुदेव ने विदाई सम्मेलन से कुछ ही समय पूर्व बुलाए गए परामर्श शिविरों में जगन तारक को आगे चलकर नई जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए कहा था। जगन ने अपने लिए साधना-उपासना की दृष्टि से विशेष निर्देश माँगे थे तो गुरुदेव ने आश्वासन दिया कि अभी इसकी आवश्यकता नहीं है। जरूरी होने पर वे कहेंगे। शायद जरूरत पड़े भी नहीं; क्योंकि उनकी आत्मिक क्षेत्र की आवश्यकताएँ वे स्वयं पूरी करते रहेंगे।

जहाँ तक जगन तारक की आत्मिक प्रगति का प्रश्न है गुरुदेव उससे संतुष्ट हैं। जगन तारक की तरह नवसारी (गुजरात) के गोकुल भाई, जौनसार (बिहार) के रमण कुमार सिंह, नलिनपुर (तमिलनाडु) के पी०आर० गोपालन, कोझिपेड की शालिनी, मंडला (मध्य प्रदेश) के मधुसूदन, मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के नारायण शर्मा और भीलवाड़ा (राजस्थान) के फतेह सिंह आदि कार्यकर्त्ताओं के अनुसार गुरुदेव ने उनकी आत्मिक स्थिति पर भी संतोष व्यक्त किया था।

यह बात पत्रों, निजी चर्चाओं और उन क्षेत्रों या क्षेत्रीय कार्यकर्त्ताओं की गोष्ठियों में उन्होंने कही भी थी। इन कार्यकर्त्ताओं का विश्वास इतना सुदृढ़ था कि वे शांतिकुंज से अपने चुन लिए जाने की सूचना का इंतजार कर रहे थे। वसंत पंचमी तक सूचना नहीं आई तो इनमें से कुछ शांतिकुंज गए। वैसे कार्यकर्त्ता प्रतिवर्ष वसंत पंचमी पर गुरुदेव-माताजी के दर्शन करने शांतिकुंज आया करते थे। इस बार जिद लेकर गए कि अपने नहीं चुने जाने का कारण पूछेंगे। कहीं कोई भूल-चूक हो गई हो तो अलग बात है। वरना उन्हें वंचित रखा गया है तो अपनी आपत्ति दर्ज कराएँगे।

नलिनपुर के पी०आर० गोपालन और मंडला के मधुसूदन इसी तरह की शिकायत लेकर चले थे और संयोग से भोपाल में मिल गए। दोनों ने तमिलनाडु एक्सप्रेस का टिकट लिया था। वे एक ही कंपार्टमेंट में थे। दोनों की बर्थ अलग-अलग थी। कंपार्टमेंट में चहल कदमी करते हुए पता चला कि दोनों गुरुभाई हैं तो सहयात्रियों से निवेदन कर बर्थ की अदला-बदली कर ली और पास- पास आ गए।

आपस में बातचीत करते हुए दोनों में आत्मीयता के तार जुड़ गए। दोनों ने विशेष साधना में नहीं चुने जाने की पीड़ा एकदूसरे से कही। इस पीड़ा को बाँटते हुए दोनों ने एक मुकाम पर तो यहाँ तक निश्चय कर लिया कि उन्हें नहीं चुना गया तो गुरुदेव से जिद करेंगे। बात जिद से नहीं बनी तो झगड़ा भी करेंगे। इस निश्चय के बाद थोड़ी ग्लानि हुई तो गोपालन ने यह कहते हुए उसे दूर किया कि झगड़ा क्यों नहीं कर सकते ? वे अपने पिता हैं और जब पिता हमें अपना वांछित नहीं देता तो संतान झगड़ा करती है या नहीं ? हम भी तो उन्हीं के पुत्र हैं। कहते-कहते दोनों हँस दिए।

समाधान की फिक्र नहीं

वसंत पंचमी पर अपनी इस तरह की शिकायतें लेकर आए परिजनों की संख्या का अनुमान लगाना कठिन था। उन परिजनों ने अपनी व्यथा किसी से कही-सुनी तो थी नहीं। इक्का-दुक्का ही थे, जिनने मन की बात अपने आत्मीय बने परिजनों से कही। लेकिन आश्चर्य यह कि गुरुदेव-माताजी के चरणों में प्रणाम-निवेदन के बाद कई साधकों का समाधान हो गया। समाधान का यह संदेश जाते-जाते उनके द्वारा गुरुदेव के नाम लिखे पत्रों में व्यक्त हुआ। गुरुदेव ने उन परिजनों की भावनाओं के बारे में दो दिन बाद हुई कार्यकर्त्ता गोष्ठी में बताया।

उस गोष्ठी में गुरुदेव ने वसंत पर्व पर आए साधकों की मनोदशा का जिक्र किया। इस उल्लेख में एक लाख

साधकों की परिधि से बाहर रह गए परिजनों की उलझनों और समाधान के संकेत थे। जिन परिजनों के मन में विशेष साधना में सम्मिलित नहीं होने की पीड़ा थी, उन्हें गुरुदेव ने कहा था कि इस शृंखला से कुछ साधक गायत्री जयंती से स्वत: हटेंगे, शृंखला से बाहर रहते हुए जो परिजन विशेष साधना कर रहे होंगे, उन्हें प्रवेश मिल सकेगा। छोड़ दिए गए साधकों में कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें स्थानीय मंडलियों के लिए स्थानीय आयोजनों की व्यवस्था सँभालनी थी। जहाँ-जहाँ भी मंडलियाँ बनीं, वहाँ-वहाँ चार दिवसीय साधना सत्र लगाए जाने थे। इन सत्रों की व्यवस्था का काम विशिष्ट दायित्व के लिए सुरक्षित कार्यकर्त्ताओं को देखना था। उन चार दिवसीय साधना सत्रों में शांतिकुंज हरिद्वार से एक प्रतिनिधि भेजने का निश्चय किया था।

इतनी जानकारी देने के बाद गुरुदेव ने कार्यकर्त्ताओं से कहा कि साधना मंडली के सदस्यों को क्या समाधान दिए गए हैं, इस बारे में आश्रम के कार्यकर्त्ताओं को ज्यादा सोचने की जरूरत नहीं है। उन्हें तो अपने आप को इसके लिए तैयार करना है कि वे साधना मंडलियों के जहाँ भी स्थानीय शिविर हों, वहाँ जाने और शिविरों को संचालित करने के लिए अपने आप को साधें। उन साधकों के लिए निर्धारित साधनाक्रम स्वयं अपनाएँ और आश्रम-व्यवस्था में अपने जिम्मे जो काम हो, उसे भी निष्ठापूर्वक करते चलें।

(क्रमश:)

बौद्ध भिक्षु पूर्ण ने तथागत से समाज में धर्मोपदेश करने हेतु जाने की आज्ञा माँगी। भगवान बुद्ध ने उसकी इस कार्य के योग्य पात्रता को मापना आवश्यक समझा। अत: उन्होंने उससे कहा—"वत्स! वहाँ के लोग बड़े कठोर हैं, तुम्हें अपमानित करेंगे।"

शिष्य पूर्ण ने हाथ जोड़कर शांत भाव से कहा—"भगवन्! यह फिर भी अच्छा है कि वे कम-से-कम मारेंगे तो नहीं।" पात्रता की कसौटी को थोड़ा और कसते हुए बुद्ध ने आगे कहा—"पूर्ण! और यदि मारने लगे तो ?" निश्चिंत अवस्था में खड़े पूर्ण ने उत्तर दिया—"तो क्या हुआ भगवन्! वे मेरे प्राण तो न ले लेंगे।"

भगवान बुद्ध ने पूर्ण के विवेक की पराकाष्ठा का परीक्षण करते पुन: प्रश्न किया—"कदाचित् ऐसा ही हो गया तो ?" पूर्णत: निर्द्वंद्व भाव में उसने उत्तर दिया—"भगवन्! यह शरीर परोपकार में नष्ट हो जाए तो यह जीवन सार्थक ही होगा।"

पूर्ण की विवेकख्याति को उसकी सहज अवस्था में दिए उत्तरों से सुनकर बुद्ध बहुत प्रसन्न हुए और अपना आशीर्वाद देते हुए बोले—"जाओ वत्स! धर्म तुम्हारी अवश्य रक्षा करेगा। लोकसेवी में ऐसा ही सत्साहस होना चाहिए।" बुद्ध को साष्टांग प्रणाम कर पूर्ण अपने लक्ष्य की ओर बढ़ गया।

प्राकृतिक जीवनचर्या

जीवन पंचतत्त्वों से विनिर्मित है। पंचतत्त्व अर्थात पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। हमें अपने खान-पान में प्रतिदिन इन पाँचों तत्त्वों का भी सेवन करना चाहिए। ऐसा होने पर हम अधिकाधिक स्वस्थ व सक्रिय रह सकेंगे। साँस के माध्यम से हर प्राणी वायु ग्रहण करता है। बाकी तत्त्वों को कुछ समय या कुछ दिन के लिए छोड़ा जा सकता है, पर वायु को नहीं। जो लोग उपवास करते हैं, वे भी अन्न, जल, सब्जी या जल आदि छोड़ देते हैं, पर वायु सेवन नहीं। एक समय आहार लेने वाले संन्यासी भी वायु सेवन तो प्रतिक्षण करते ही हैं अर्थात पंचतत्त्वों में से वायु प्राणियों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

यह वायु व्यक्ति को शुद्ध एवं प्राकृतिक रूप में पर्याप्त मात्रा में मिले, यह भी आवश्यक है। जो लोग बड़े शहरों में या उद्योगों के पास रहते हैं, उन्हें शुद्ध वायु नहीं मिल पाती। इसीलिए इन दिनों नए-नए रोग लगातार बढ़ रहे हैं। अब तो बड़े नगरों में शुद्ध ऑक्सीजन के बूथ खुलने लगे हैं, जहाँ पैसे देकर व्यक्ति दस-पंद्रह मिनट शुद्ध प्राणवायु ले सकता है। जैसे आजकल हर व्यक्ति अपने साथ साफ पानी की बोतल रखने लगा है, लगता है कुछ समय बाद लोग प्राणवायु के छोटे सिलेंडर भी साथ लेकर चला करेंगे।

ताजी और शुद्ध प्राणवायु प्राप्त करने की नि:शुल्क विधि प्रात:कालीन भ्रमण है। सूर्योदय होने पर पेड़ों द्वारा रात में उत्सर्जित कार्बन-डाइऑक्साइड वायुमंडल में चली जाती है। ऐसे शीतल और शांत वातावरण में अकेले या सपरिवार घूमना शुद्ध वायु ग्रहण करने का सबसे सरल उपाय है।

केवल घूमना ही नहीं, इस समय कुछ आसन, व्यायाम और प्राणायाम करना भी बहुत लाभकारी है। इन दोनों समय पर दिन और रात का मिलन होता है। इस समय के सदुपयोग से हम अपने शरीर तथा मन को स्वस्थ रख सकते हैं। बच्चों और युवाओं को तो शाम के समय पढ़ने के बजाय खेलना ही चाहिए।

जहाँ तक वायुमंडल के प्रदूषण की बात है, कुछ सरकारी तथा सामाजिक संस्थाएँ इसकी वृद्धि तथा उससे हो रही हानि के बारे में बताती रहती हैं। महानगरों में अनेक चौराहों पर ऐसे यंत्र लगा दिए गए हैं, जो हर समय प्रदूषण मापते रहते हैं। पेट्रोल और डीजल वाले वाहन सबसे अधिक प्रदूषण फैलाते हैं, पर आधुनिक भाग-दौड़ वाले जीवन में इनके बिना काम भी नहीं चलता। जिसके पास जितनी अधिक और महँगी गाड़ियाँ, वह उतना ही बड़ा व्यक्ति माना जाता है।

अब सड़क पर साइकिल के बजाय मोटरसाइकिल या स्कूटर लिए युवा ही अधिक दिखाई देते हैं। चाहे कोई स्वयं वाहन न चलाता हो, पर प्रदूषित वायु सेवन करना तो उसकी भी मजबूरी ही है। इसलिए जहाँ सार्वजनिक यातायात व्यवस्था का बहुत अच्छा होना जरूरी है, वहाँ दस-बीस कदम जाने के लिए वाहन निकालने की आदत भी छोड़नी होगी। पेड़ों को कटने से बचाकर तथा परिवार के हर सदस्य के नाम पर एक पेड़ लगाकर हम प्रदूषण नियंत्रण में सहयोग दे सकते हैं।

वायु की ही तरह जल भी व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता है। किसी समय 'बहता पानी निर्मला' कहकर नदियों का जल सर्वाधिक शुद्ध माना जाता था, पर अब नगरों के सीवर, कारखानों के अपशिष्ट, समय-समय उसमें विसर्जित किए जाने वाले रासायनिक रंगों से पुती मूर्तियों तथा अन्य कूड़े-करकट के कारण नदियाँ आचमन योग्य भी नहीं रह गई हैं। अब तो सब जगह कुछ घंटों के लिए सरकारी पानी मिलता है। वह कितना शुद्ध होता है, कहना कठिन है। पानी साफ और भरपूर मिले, इसके लिए निजी बोरिंग कराने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। जिनके लिए यह संभव नहीं है, उन्होंने भी घरों में फिल्टर लगा लिए हैं। इनसे एक लीटर पानी साफ होने के चक्कर में चार लीटर पानी नाली में बह जाता है। शहरीकरण का अर्थ ही है, बिजली और पानी का अत्यधिक प्रयोग। अत: जल का स्तर लगातार नीचे जा रहा है।

विद्वानों का मत है कि अगला विश्वयुद्ध जल के कारण होगा। इसका सत्य तो भविष्य बताएगा, पर नलों पर

हर दिन डिब्बे और कनस्तर लिए लोगों को झगड़ते हुए कोई भी देख सकता है। जो कार दो बालटी पानी में धोई जा सकती है, उसे दो हजार लीटर साफ पानी से धोते हुए लोग प्राय: मिल जाते हैं। हम वर्षा जल का संरक्षण कर तथा पानी को व्यर्थ न जाने देकर भी इस दिशा में अपना व्यक्तिगत सहयोग दे सकते हैं। हम साफ पानी पिएँ, यह तो आवश्यक है ही, पर कितना पिएँ, इस बारे में अलग-अलग मत हैं। फिर भी एक वयस्क व्यक्ति को दिन भर में आठ-दस गिलास पानी तो पीना ही चाहिए।

सुबह उठकर कुल्ला-मंजन के बाद ताँबे के साफ पात्र में रखा पानी भरपेट पीना बहुत लाभ देता है। ताँबा जल की अधिकांश अशुद्धियाँ दूर कर देता है। सरदियों में पानी को गुनगुना करके पीना चाहिए। भोजन के साथ पानी नहीं पीना चाहिए। इस बारे में भी मतभिन्नता है, पर अधिकांश का कहना है कि भोजन के बीच में पानी पीने के बजाय आधे-पौने घंटे बाद पानी पीना अच्छा रहता है। गरम भोजन के साथ फ्रिज का ठंढा पानी बहुत ही घातक है। गरमियों में घड़े और सुराही का जल आज भी सर्वश्रेष्ठ ही है। पानी सदा बैठकर ही पीना चाहिए, ऐसा भी बुजुर्गों का कहना है।

आकाश की पहचान खालीपन या शून्यता है। घटाकाश और मठाकाश जैसी कल्पनाएँ इसी से आई हैं। आकाश में कोई भी चीज फेंकें, खाली होने के कारण वह मना नहीं करता। किसी पात्र के खाली होने का अर्थ है कि इसमें आकाश तत्त्व विद्यमान है, पर जब उसमें कोई वस्तु डालते हैं, तो वह हट जाता है। ऐसी शून्यता हम अपने पेट को बिलकुल खाली रखकर प्राप्त कर सकते हैं। अत: प्रात: शौचादि से निवृत्त होने के बाद लगभग दो घंटे तक पेट को अवकाश देना चाहिए। इससे जहाँ भोजन पचाने वाली इंद्रियों को आराम तथा अपनी टूट-फूट ठीक करने का समय मिलेगा, वहाँ हमें आकाश तत्त्व भी प्राप्त होगा। व्रत और उपवास आकाश तत्त्व की प्राप्ति का अवसर कुछ अधिक समय तक प्रदान करते हैं। इनका उपयोग करना चाहिए।

पृथ्वी हमें अन्न, दाल, सब्जियाँ आदि देती है। अत: इनके सेवन से हमें पृथ्वी तत्त्व की प्राप्ति होती है, पर हम इन्हें कच्चा नहीं खा सकते। इन्हें आग पर पकाकर तथा आवश्यकतानुसार कुछ अन्य मिर्च-मसाले डालकर प्रयोग किया जा सकता है। इनका सेवन कितना और कितनी बार करें, इसका कोई मापदंड नहीं है। शारीरिक परिश्रम करने वाले किसान या मजदूर तथा कार्यालय में बैठकर काम करने वाले की आवश्यकता अलग-अलग होगी। उन्हें उसी अनुसार इनका सेवन करना चाहिए।

अग्नि का स्रोत सूर्य है। सरदियों में तो सीधे धूप में लेटना या बैठकर काम करना अच्छा लगता है। गरमियों में भी अपने काम के सिलसिले में घूमते-फिरते धूप लगती रहती है। इससे अग्नि तत्त्व अपने आप ही मिल जाता है। जो लोग दिन भर वातानुकूलित वातावरण अर्थात ए०सी० वाले घर, कार्यालय और कार में रहते हैं, उनके शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है। इसलिए थोड़े से परिश्रम या मौसम बदलने मात्र से ही ये लोग बीमार होकर बिस्तर पकड़ लेते हैं। भीषण गरमियों में जहाँ लू से बचना आवश्यक है, वहाँ धूप से डरना भी अनुचित है। जहाँ तक खान-पान की बात है, तो सूर्य की ऊर्जा से पके हुए फल और सलाद आदि के सेवन से अग्नि तत्त्व भरपूर मात्रा में प्राप्त होता है, पर इनका सेवन दिन में ही करना चाहिए अर्थात सूर्यास्त के बाद इन्हें खाना ठीक नहीं है।

सूर्यास्त के बाद शरीर की पाचन-क्रिया मंद हो जाती है। अत: उस समय भारी भोजन ग्रहण करना ठीक नहीं है। यद्यपि आज की भाग-दौड़ वाले जीवन में सब नियमों का पालन संभव नहीं होता; फिर भी जितना हो सके, उतना पालन करना चाहिए। यदि लाभ हो, तो दूसरों को बताना चाहिए, जिससे अधिकाधिक लोगों का कल्याण हो सके। इस प्रकार पंचतत्त्व से विनिर्मित इस देह के लिए प्राकृतिक ढंग से आहार-विहार ही उपयुक्त है। ❑

कृतं फलति सर्वत्र,
नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

—महाभारत

अर्थात अपना किया हुआ कर्म ही सर्वत्र फल देता है। बिना किए हुए कर्म का फल कभी किसी ने नहीं भोगा।

ब्रह्मवर्चस-देव संस्कृति शोध सार— 152

उच्च रक्तचाप का आयुर्वेदिक-उपचार

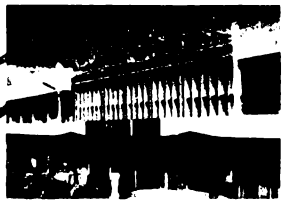

एक स्वस्थ और संतुलित जीवनशैली के आधार पर ही जीवन में आरोग्य, सुख, शांति, समृद्धि और सफलता के समवेत स्वर प्रस्फुटित होते हैं। इन स्वरों से उत्पन्न संगीत जीवन को निरंतर प्रसन्नता और सार्थकता की अनुभूति से सराबोर करता है, लेकिन अच्छी जीवनशैली के अभाव में हमारा जीवन कष्ट-कठिनाइयों, चिंता-विषाद, अशांति और निरर्थकता का पर्याय बन जाता है। वर्तमान की सैकड़ों समस्याओं के मूल में जीवनशैली का अभाव ही मुख्य कारण है।

आहार-विहार, काम-काज, आचार-विचार—इन सबकी अस्त-व्यस्तता हमारी बिगड़ी हुई जीवनशैली का परिचय कराती है। जीवनशैली के बिगड़ने से जीवन अनेक गंभीर समस्याओं और बीमारियों से घिरता चला जाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अपने शोध-अनुसंधानों में जीवनशैली से संबंधित कई बीमारियों को चिह्नित करने और उनका समाधान करने के लिए प्रयासरत है। हमारे शरीर, मन और भावनाओं को प्रभावित करने तथा गंभीर रोगों से ग्रस्त बनाने में विकृत जीवनशैली की अहम भूमिका होती है।

वर्तमान समय में भाग-दौड़ भरी दिनचर्या और निरंतर बदलती कार्यशैली, जीवनशैली, खान-पान व आचार-विचार की गलत आदतों से उत्पन्न बीमारियाँ तेजी से बढ़ रही हैं। हृदयरोग, उच्च रक्तचाप, मधुमेह, मोटापा, कैंसर, अस्थमा, एसिडिटी जैसी कई गंभीर बीमारियाँ विकृत जीवनशैली का ही परिणाम हैं। देव संस्कृति विश्वविद्यालय में इनकी रोक-थाम एवं प्रबंधन को लेकर एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शोधकार्य पूर्ण किया गया है।

यह अध्ययन इस दृष्टि से भी अतिमहत्त्वपूर्ण और विशिष्ट है; क्योंकि इसमें भारतीय चिकित्सा द्वारा जीवनशैली संबंधी समस्याओं के समाधान को समग्रता और व्यापकता के मानदंड पर उपलब्ध करने की रीति-नीति को वैज्ञानिक एवं प्रायोगिक आधार पर विवेचित किया गया है। अत: जीवनशैली के निर्माण व समस्याओं से बचने तथा मौजूदा बीमारियों के समग्र उपचार तकनीक के रूप में यह शोध अध्ययन अत्यंत जनोपयोगी एवं लाभकारी सिद्ध होगा।

देव संस्कृति विश्वविद्यालय के प्राच्य अध्ययन विभाग (आयुर्वेद) के अंतर्गत संपन्न किए गए इस महत्त्वपूर्ण शोधकार्य को शोधार्थी डॉ० पुनीता पाण्डे द्वारा श्रद्धेय कुलाधिपति डॉ० प्रणव पण्ड्या जी के विशेष संरक्षण एवं निर्देशन तथा डॉ० बी० पी० उपाध्याय जी के सह-निर्देशन में पूरा किया गया है। इस प्रायोगिक शोध अध्ययन का विषय है—**'होलिस्टिक एप्रोच ऑफ इन्डियन मेडिसिन इन प्रिवेन्शन एंड मैनेजमेंट ऑफ हाइपर टेंशन-अ लाईफ स्टाइल डिसऑर्डर'** अर्थात जीवनशैली संबंधी रोग उच्च रक्तचाप की रोक-थाम व प्रबंधन में भारतीय चिकित्सा का समग्र दृष्टिकोण।

शोधार्थी द्वारा इस शोध अध्ययन के प्रायोगिक, वैज्ञानिक एवं सैद्धांतिक पक्षों की विवेचना को कुल दस अध्यायों में वर्गीकृत कर प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय—प्रस्तावना है। इसके अंतर्गत भारतीय चिकित्सा विधि की विशिष्टता एवं महत्ता की विवेचना करते हुए उच्च रक्तचाप के प्रबंधन व उपचार में भारतीय चिकित्सा-सिद्धांतों की प्रासंगिकता एवं उपादेयता को प्रस्तुत किया गया है। इसी के साथ उच्च रक्तचाप के लक्षणों, कारणों एवं दुष्प्रभाव संबंधी बिंदुओं पर चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय—ऐतिहासिक सर्वेक्षण है। इसके अंतर्गत वैदिक काल, उपनिषद् काल, संहिता काल, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, काश्यप संहिता, अष्टांग संहिता एवं अष्टांग हृदय आदि भारतीय ग्रंथों में शरीर क्रिया विज्ञान के सूत्रों व उच्च रक्तचाप जैसी बीमारियों की उत्पत्ति के कारणों संबंधी जानकारियों का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में शोधार्थी ने उच्च रक्तचाप के उपचार हेतु आधुनिक चिकित्सा प्रणाली के सिद्धांतों की भी ऐतिहासिक संदर्भ में मूल्यांकनपरक विवेचना प्रस्तुत की है।

तृतीय अध्याय—आयुर्वेदिक सर्वेक्षण है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक है। इसमें आयुर्वेद की दृष्टि से मानव स्वास्थ्य की संरचना एवं आरोग्य तथा उपचार संबंधी प्रक्रियाओं का विस्तृत विवेचन समाहित है।

सर्वप्रथम हमारे रक्त परिसंचरण तंत्र की आयुर्वेदिक सिद्धांतों के आधार पर व्याख्या की गई है। हृदय की कार्यप्रणाली, धमनी, शिरा, वात, प्राण वात, व्यान वात, उदान वात, समान वात, अपान वात, पाचक पित्त, साधक पित्त, अवलंबक कफ, ओज, रस धातु और रक्त धातु आदि विषयों के माध्यम से शरीर क्रियाविज्ञान को प्रस्तुत किया गया है।

इसके पश्चात आयुर्वेदिक दृष्टि से उच्च रक्तचाप की पहचान, मानक, विभिन्न प्रकार एवं कारणों की तथ्यात्मक विवेचना करते हुए रोक-थाम, प्रबंधन व उपचार की महत्त्वपूर्ण तकनीकों, औषधियों एवं जीवनशैली में आवश्यक परिवर्तन संबंधी पहलुओं की विस्तृत विवेचना की गई है।

उच्च रक्तचाप की समस्या के निदान संबंधी पक्षों में शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आनुवंशिक आदि कारणों का विवेचन करते हुए औषधियों एवं योग तकनीकों के द्वारा रक्तचाप के प्रबंधन एवं उपचार-विधियों को प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेदिक औषधियों का उल्लेख त्रिदोषों के निदान के अनुसार किया गया है तथा उच्च रक्तचाप को वात-पित्त प्रधान त्रिदोष व्याधि कहा गया है। इसके प्रबंधन एवं उपचार में प्रयुक्त आयुर्वेदिक औषधियों का आठ प्रकारों में उल्लेख किया गया है। यथा—रस, पिष्टी, वटी, चूर्ण, रसायन, क्वाथ, आसव-अरिष्ट, क्षीरपाक आदि।

चतुर्थ अध्याय—आधुनिक सर्वेक्षण है। इसके अंतर्गत आधुनिक चिकित्सा सिद्धांतों में रक्तचाप एवं इसे प्रभावित करने वाले कारक तत्त्वों की विवेचना करते हुए उच्च रक्तचाप की परिभाषाएँ, मानक स्तर, दुष्प्रभाव, मापन, सावधानी, उपचार आदि विषयों की तथ्यात्मक सारणी एवं चार्ट द्वारा विस्तृत विवेचना-व्याख्या की गई है। साथ ही उच्च रक्तचाप की रोक-थाम, प्रबंधन एवं उपचार की उपयुक्त तकनीकों एवं औषधियों के सेवन संबंधी महत्त्वपूर्ण जानकारी को प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में उच्च रक्तचाप के प्रबंधन में दवाइयों के साथ-साथ जीवनशैली में सकारात्मक परिवर्तन, आहार की पौष्टिकता, नियंत्रित वजन, शारीरिक सक्रियता, व्यसनों से दूरी आदि उपायों को भी उपचार की प्रभावकारी तकनीकों में शामिल किया गया है।

पंचम अध्याय—औषधि सर्वेक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें उच्च रक्तचाप में उपचार हेतु प्रयुक्त प्रमुख आयुर्वेदिक औषधियों की उनके गुण, प्रभाव, प्रकृति, मात्रा, अनुपान आदि तथ्यों के साथ जानकारी प्रदान की गई है। औषधियों में प्रमुख हैं—सर्पगंधा, जटामांसी, मधुपर्णी, अश्वगंधा, अर्जुन, गुग्गुल, हरीतकी, विभीतक, आमलकी आदि। इन सभी औषधियों के जैविक, रासायनिक, वानस्पतिक नाम-गुणों की व्याख्या एवं उपचार हेतु प्रयोग-विधि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय—सामग्री और विधियाँ है। इस अध्याय में शोधार्थी द्वारा किए गए प्रयोग की विधि एवं प्रयोग में लाई गई औषधि का विवेचन किया गया है। प्रयोगात्मक अध्ययन के लिए शोधार्थी ने उत्तराखंड राज्य के हरिद्वार स्थित ऋषिकुल शासकीय स्नातकोत्तर आयुर्वेद महाविद्यालय एवं अस्पताल के उच्च रक्तचाप के सौ मरीजों का चयन किया।

ये सभी मरीज काय चिकित्सा विभाग में उच्च रक्तचाप की चिकित्सा हेतु आए थे। इनके लिए सुनिश्चित किया गया कि इनकी उम्र 20 से 80 वर्ष के मध्य हो तथा रक्तचाप का स्तर 140/90mm Hg या इससे अधिक हो।

प्रयोग के दौरान शोधार्थी द्वारा इन मरीजों में रक्तचाप की समस्या से संबंधित लक्षणों; जैसे—अनिद्रा, सिरदरद, क्रोध, पसीने की अधिकता, शरीर दरद, भ्रम, सीने में दरद आदि का निरीक्षण किया गया। साथ ही उनकी उम्र, लिंग इत्यादि का भी ध्यान रखा गया। प्रयोग की अवधि 90 दिन रही, जिसमें मरीजों के एक समूह को उच्च रक्तचाप की औषधि एवं दूसरे को औषधि के साथ अर्जुन क्षीरपाक का सेवन कराया गया।

प्रयोग अवधि में मरीजों के स्वास्थ्य की नियमित जाँच की जाती रही। प्रयोग में औषधि के साथ-साथ कुछ योगासनों, प्राणायाम, गायत्री मंत्र-जप, ध्यान व सात्त्विक आहार को भी सम्मिलित रखा गया। प्रयोग की अवधि पूर्ण होने पर प्राप्त आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण कर शोध परिणामों की विवेचना प्रस्तुत की गई।

सप्तम अध्याय—निरीक्षण एवं परिणाम है। इसके अंतर्गत उच्च रक्तचाप एवं इससे संबंधित लक्षणों पर शोध

तृतीय अध्याय—आयुर्वेदिक सर्वेक्षण है। भारतीय चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से यह अध्याय अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक है। इसमें आयुर्वेद की दृष्टि से मानव स्वास्थ्य की संरचना एवं आरोग्य तथा उपचार संबंधी प्रक्रियाओं का विस्तृत विवेचन समाहित है।

सर्वप्रथम हमारे रक्त परिसंचरण तंत्र की आयुर्वेदिक सिद्धांतों के आधार पर व्याख्या की गई है। हृदय की कार्यप्रणाली, धमनी, शिरा, वात, प्राण वात, व्यान वात, उदान वात, समान वात, अपान वात, पाचक पित्त, साधक पित्त, अवलंबक कफ, ओज, रस धातु और रक्त धातु आदि विषयों के माध्यम से शरीर क्रियाविज्ञान को प्रस्तुत किया गया है।

इसके पश्चात आयुर्वेदिक दृष्टि से उच्च रक्तचाप की पहचान, मानक, विभिन्न प्रकार एवं कारणों की तथ्यात्मक विवेचना करते हुए रोक-थाम, प्रबंधन व उपचार की महत्त्वपूर्ण तकनीकों, औषधियों एवं जीवनशैली में आवश्यक परिवर्तन संबंधी पहलुओं की विस्तृत विवेचना की गई है।

उच्च रक्तचाप की समस्या के निदान संबंधी पक्षों में शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, आनुवंशिक आदि कारणों का विवेचन करते हुए औषधियों एवं योग तकनीकों के द्वारा रक्तचाप के प्रबंधन एवं उपचार-विधियों को प्रस्तुत किया गया है। आयुर्वेदिक औषधियों का उल्लेख त्रिदोषों के निदान के अनुसार किया गया है तथा उच्च रक्तचाप को वात-पित्त प्रधान त्रिदोष व्याधि कहा गया है। इसके प्रबंधन एवं उपचार में प्रयुक्त आयुर्वेदिक औषधियों का आठ प्रकारों में उल्लेख किया गया है। यथा—रस, पिष्टी, वटी, चूर्ण, रसायन, क्वाथ, आसव-अरिष्ट, क्षीरपाक आदि।

चतुर्थ अध्याय—आधुनिक सर्वेक्षण है। इसके अंतर्गत आधुनिक चिकित्सा सिद्धांतों में रक्तचाप एवं इसे प्रभावित करने वाले कारक तत्त्वों की विवेचना करते हुए उच्च रक्तचाप की परिभाषाएँ, मानक स्तर, दुष्प्रभाव, मापन, सावधानी, उपचार आदि विषयों की तथ्यात्मक सारणी एवं चार्ट द्वारा विस्तृत विवेचना-व्याख्या की गई है। साथ ही उच्च रक्तचाप की रोक-थाम, प्रबंधन एवं उपचार की उपयुक्त तकनीकों एवं औषधियों के सेवन संबंधी महत्त्वपूर्ण जानकारी को प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में उच्च रक्तचाप के प्रबंधन में दवाइयों के साथ-साथ जीवनशैली में सकारात्मक परिवर्तन, आहार की पौष्टिकता, नियंत्रित वजन, शारीरिक सक्रियता, व्यसनों से दूरी आदि उपायों को भी उपचार की प्रभावकारी तकनीकों में शामिल किया गया है।

पंचम अध्याय—औषधि सर्वेक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें उच्च रक्तचाप में उपचार हेतु प्रयुक्त प्रमुख आयुर्वेदिक औषधियों की उनके गुण, प्रभाव, प्रकृति, मात्रा, अनुपान आदि तथ्यों के साथ जानकारी प्रदान की गई है। औषधियों में प्रमुख हैं—सर्पगंधा, जटामांसी, मधुपर्णी, अश्वगंधा, अर्जुन, गुग्गुल, हरीतकी, विभीतक, आमलकी आदि। इन सभी औषधियों के जैविक, रासायनिक, वानस्पतिक नाम-गुणों की व्याख्या एवं उपचार हेतु प्रयोग-विधि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय—सामग्री और विधियाँ है। इस अध्याय में शोधार्थी द्वारा किए गए प्रयोग की विधि एवं प्रयोग में लाई गई औषधि का विवेचन किया गया है। प्रयोगात्मक अध्ययन के लिए शोधार्थी ने उत्तराखंड राज्य के हरिद्वार स्थित ऋषिकुल शासकीय स्नातकोत्तर आयुर्वेद महाविद्यालय एवं अस्पताल के उच्च रक्तचाप के सौ मरीजों का चयन किया।

ये सभी मरीज काय चिकित्सा विभाग में उच्च रक्तचाप की चिकित्सा हेतु आए थे। इनके लिए सुनिश्चित किया गया कि इनकी उम्र 20 से 80 वर्ष के मध्य हो तथा रक्तचाप का स्तर 140/90mm Hg या इससे अधिक हो।

प्रयोग के दौरान शोधार्थी द्वारा इन मरीजों में रक्तचाप की समस्या से संबंधित लक्षणों; जैसे—अनिद्रा, सिरदरद, क्रोध, पसीने की अधिकता, शरीर दरद, भ्रम, सीने में दरद आदि का निरीक्षण किया गया। साथ ही उनकी उम्र, लिंग इत्यादि का भी ध्यान रखा गया। प्रयोग की अवधि 90 दिन रही, जिसमें मरीजों के एक समूह को उच्च रक्तचाप की औषधि एवं दूसरे को औषधि के साथ अर्जुन क्षीरपाक का सेवन कराया गया।

प्रयोग अवधि में मरीजों के स्वास्थ्य की नियमित जाँच की जाती रही। प्रयोग में औषधि के साथ-साथ कुछ योगासनों, प्राणायाम, गायत्री मंत्र-जप, ध्यान व सात्त्विक आहार को भी सम्मिलित रखा गया। प्रयोग की अवधि पूर्ण होने पर प्राप्त आँकड़ों का सांख्यिकीय विश्लेषण कर शोध परिणामों की विवेचना प्रस्तुत की गई।

सप्तम अध्याय—निरीक्षण एवं परिणाम है। इसके अंतर्गत उच्च रक्तचाप एवं इससे संबंधित लक्षणों पर शोध

की उपचारात्मक विधि के प्रभाव को मापने के लिए प्रयोगशाला में जाँच से प्राप्त आँकड़ों के आधार पर विश्लेषण को प्रस्तुत किया गया है। बाद में प्रयोग के सभी आँकड़ों को विश्लेषित करके प्रस्तुत किया गया है, ताकि विभिन्न मानकों के परीक्षण, निरीक्षण एवं परिणामों का स्पष्टता से मूल्यांकन किया जा सके।

अष्टम अध्याय में इन **आँकड़ों की विस्तृत व्याख्या एवं विवेचना** प्रस्तुत की गई है। इस विवेचना में उच्च रक्तचाप के प्रबंधन एवं उपचार में इस रोग की प्रकृति के अनुसार जीवनशैली का निर्माण तथा आहार-विहार व योगादि के साथ प्रयोग में प्रयुक्त औषधियों के सकारात्मक एवं सार्थक प्रभाव एवं महत्त्व को प्रस्तुत किया गया है।

अध्ययन के अंतिम सोपान में शोध अध्ययन का सारांश एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। शोधार्थी ने अपने शोध परिणामों के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया है कि उच्च रक्तचाप के उपचार में आधुनिक चिकित्सा में कोई स्थायी समाधान नहीं है। इसमें रोग को नियंत्रित तो रखा जा सकता है, परंतु पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सकता; जबकि भारतीय चिकित्सापद्धति इस रोग के प्रबंधन, रोक-थाम व उपचार में ज्यादा प्रभावकारी व समग्र समाधान प्रस्तुत करती है।

वर्तमान समय में जीवनशैली संबंधी समस्याओं की भयावहता को नकारा नहीं जा सकता। ऐसे में यह शोध अध्ययन भारतीय चिकित्सा सिद्धांतों के माध्यम से ऐसी समस्याओं के समुचित निदान, उपचार व रोक-थाम के लिए एक सार्थक और समग्र चिकित्सा का प्रारूप प्रस्तुत करता है। ❑

एक वृद्ध से बादशाह नौशेरवाँ ने पूछा—''बाबा! आपकी उम्र कितनी है?'' वृद्ध ने कुछ गंभीर होकर उत्तर दिया—''मात्र पाँच वर्ष।'' वृद्ध के इस विचित्र उत्तर को सुन नौशेरवाँ बड़े विस्मित हुए व आश्चर्य व्यक्त करते पुनः प्रश्न करने लगे—''सो कैसे बाबा?''

साधना के परिणामस्वरूप मोती सदृश्य अपनी चमकती हुई आँखों से वृद्ध ने नौशेरवाँ की ओर अपनी दृष्टि की और आनंदित हो कहने लगे—''युवक! इतनी उम्र तो नर-पशुओं की तरह दिन गुजारने में बीत गई। अब पाँच वर्ष से जीवन-साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ और मनुष्य जन्म सार्थक होते अनुभव किया है। इसलिए मेरी उम्र मनुष्य योनि में पाँच वर्ष ही हुई है।''

वृद्ध के इस उत्तर ने बादशाह नौशेरवाँ की न केवल जिज्ञासा शांत की, वरन उन्हें अत्यंत प्रभावित भी किया। नौशेरवाँ सोचने लगे—''सत्य ही है कि आयु उतनी ही सार्थक है, जितने में कुछ सत्कर्म बन पड़ा।'' उन्होंने वृद्ध को प्रणाम किया व उनका शुभाशीर्वाद लेकर स्वयं भी जीवन-साधना में संलग्न हो गए।

गायत्री-साधना से शक्ति-जागरण

आध्यात्मिक साधनाओं, उपासना आदि उपक्रमों का उद्देश्य अपने भीतर की महानता को विकसित करना है। मानवीय काया में सभी संभावनाओं, दिव्यताओं, सिद्धियों के बीजांकुर विद्यमान हैं। आवश्यकता केवल उन्हें खाद-पानी देने की और उनके विकास हेतु अनुकूलता प्रस्तुत करने की है। इतना सब कुछ बन पड़ने पर देखते-देखते वे विकसित व पल्लवित हो सकते हैं।

यों तो स्थूलदृष्टि से मनुष्य शरीर पाँच तत्त्वों का, सप्त धातुओं का ही बना परिलक्षित होता है। अन्न-जल एवं वायु पर उसका निर्वाह चलता प्रतीत होता है, पर यदि तात्त्विक सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाए तो उसमें विश्व- ब्रह्मांड में संव्याप्त समस्त जड़-चेतन शक्तियों के बीज विद्यमान दिखाई देंगे।

जो कुछ इस विराट विश्व में है, उसका छोटा रूप अपने भीतर बहुत ही सुव्यवस्थित रीति से सँजोया हुआ है। यदि इन बीजों को ठीक तरह से सिंचित, पोषित किया जा सके तो उसका विस्तार इतने बड़े विशाल वृक्ष के रूप में हो सकता है, जिसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़े।

शास्त्रों में विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया गया है कि अपने ही भीतर सभी देवी-देवता, समस्त दिव्य लोक एवं दिव्य शक्तियाँ, सभी ऋषि, सभी सिद्धियाँ तथा विश्व-ब्रह्मांड में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है, वह सब विद्यमान है। अंतरंग में कहाँ, क्या विद्यमान है, उसका उल्लेख करते हुए शिव संहिता 2/1-2 में कहा गया है—

देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तदीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥

अर्थात इसी मनुष्य शरीर में सुमेरु पर्वत, सप्तद्वीप तथा समस्त सरिताएँ, सागर, पर्वत, क्षेत्र एवं उनके क्षेत्रपाल, ऋषि-मुनि, ग्रह-नक्षत्र, तीर्थ, पीठ एवं उनके देवता निवास करते हैं।

जाबाल दर्शनोपनिषद् 4/48 में उल्लेख है कि इसी मानव काया में सात तीर्थ हैं। मस्तक में श्रीशैल, ललाट में केदार, नासिका और भौंहों के बीच काशी, छाती में कुरुक्षेत्र, हृदय में प्रयाग, मूलाधार में कमलालय तीर्थ विद्यमान हैं। जो इन आत्मतीर्थों को छोड़कर बाह्य तीर्थों में भटकता फिरता है, वह रत्नभंडार को छोड़कर काँच ढूँढ़ते फिरने वालों की तरह है।

महायोग विज्ञान में भी कहा गया है कि इसी शरीर में समस्त तीर्थ और देवताओं का निवास है। गंगा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिंधु, कावेरी, चंद्रभागा, वितस्ता, इरावती आदि प्रमुख नदियाँ तथा बहत्तर हजार छोटी नदियाँ—ये बड़ी और छोटी नदियों के रूप में प्रवाहित हो रही हैं। इसी में आगे कहा गया है कि पंद्रह तिथियाँ, सात वार, सत्ताईस नक्षत्र, बारह राशियाँ, अट्ठाईस योग, सात करण, नवग्रह एवं उनके उपग्रह, नक्षत्र मंडल तथा तैंतीस कोटि देवता—सब इसी शरीर में विद्यमान हैं।

आत्मवेत्ता ऋषियों ने मानव काया की तीन परतों अर्थात स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक अद्भुत चेतन तत्त्व को खोज निकाला। पंचकोशों एवं षट्चक्रों में विद्यमान शक्तिबीज कोशों में विद्यमान दिव्य क्षमताओं की प्रचुर प्रचंडता उन्हें इसी शरीर में दिखाई दी। विराट में सन्निहित सब कुछ उन्होंने इसी छोटे से कलेवर में सारभूत विद्यमान पाया है। इसलिए उन्होंने अपने अंतरंग में ही देव साधना का विधान अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

यों तो देव मंदिरों में एवं लोक-लोकांतरों में भी देव शक्तियाँ संव्याप्त हैं, परंतु जितनी समीप और जितनी सजीव वे अपने अंतरंग में सन्निहित हैं, उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं। जितनी सुविधापूर्वक उन्हें अपने अंदर पाया जा सकता है, उतनी सरलता और सफलता अन्यत्र नहीं मिल सकती। संसार में हमारे जितने समीप परमात्मा हैं, उतना अधिक और कोई नहीं है।

गायत्री-साधना इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है। उसकी उच्चस्तरीय साधना जिसे पंचकोश अनावरण एवं कुंडलिनी जागरण या उन्नयन भी कहा जा सकता है— इसे अपने

अंतरंग क्षेत्र में ही करना पड़ता है और उसकी सफलता जब मेघमालाओं की तरह बरसती है, तो अगणित दिव्य विभूतियाँ स्वयमेव प्रस्फुटित और पल्लवित होती हैं। कुंडलिनी जागरण की यों तो कई पद्धतियाँ हैं और प्रयोग में भी लाई जाती हैं, पर गायत्री-साधना से जितने सौम्य, सरल और निरापद ढंग से यह महाशक्ति जाग्रत होती है, उतनी अन्य किसी उपाय से नहीं।

यों तो व्यापक बाह्य जगत् में भी देव शक्तियाँ विद्यमान हैं, परंतु उनके लिए विश्व की देख-भाल का विस्तृत कार्यक्षेत्र नियत रहता है। व्यक्ति की भूमिका के अनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न करने, सफलता और वरदान देने का कार्य वे उसी अंश में पूरा करती हैं, जो बीज रूप में हर व्यक्ति के भीतर विद्यमान है। सूर्य का अंश आँख में मौजूद है। यदि आँखें सही हैं, तो ही विराट सूर्य के प्रकाश से लाभ उठाया जा सकता है। अपने कान ठीक हों तो ही सुमधुर संगीत का आनंद उठा पाना संभव हो पाता है।

इसी प्रकार अपने भीतर सन्निहित देव शक्तियों के बीज यदि विकसित एवं परिष्कृत हों तो उनके माध्यम से विश्वव्यापी दिव्य शक्तियों के साथ संबंध जोड़ना, आकर्षित करना और उनका सहयोग-अनुग्रह प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है। गायत्री महाशक्ति की साधना-उपासना इसी प्रक्रिया को सरल बनाती है। ❑

एक साधक जब भी पूजा में बैठता, तभी उसके मन में बुरे विचार उठते। वह गुरु से इस समस्या का हल पूछने गया। आश्रम में घूम रहे एक श्वान को देख गुरु ने कुछ विचार किया व अगले ही क्षण साधक को उस श्वान की सेवा करने का आदेश दिया। 10 दिन तक स्वयं उस साधक को भी आश्रम में ही ठहरा लिया। ईश्वर में मन लगाने के लिए गुरुप्रदत्त इस विचित्र उपाय का कारण शिष्य न समझ सका, किंतु गुरु की आज्ञा मानकर वह श्वान की सेवा करने लगा। 10 दिन उस श्वान को साथ रखने से वह साधक उससे पूरी तरह हिल-मिल गया। संगति के निर्धारित दिन पूर्ण होते ही गुरु ने साधक को अपने पास बुलवाया और आज्ञा दी—"वत्स! अब इस श्वान को भगाकर आओ।"

गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर जब साधक उस श्वान को भगाने जाता तो वह श्वान कहीं और न जाकर उस साधक के पीछे-पीछे ही लौट आता—यह देख साधक बड़े असमंजस में पड़ा। बड़ी देर तक इस संघर्ष को देख रहे गुरु ने साधक को अपने समीप बुलाया व स्नेहपूर्वक समझाते हुए कहने लगे—"वत्स! जिन बुरे विचारों में तुम दिन भर डूबे रहते हो, भला पूजा के समय वे तुम्हारा साथ क्यों छोड़ने लगे ?" शिष्य की समझ में वस्तुस्थिति आ गई और उसने विचार संयम की साधना आरंभ की व थोड़े समय पश्चात बुरे विचारों से निजात पाई। ध्यान का अर्थ मात्र एकाग्रता नहीं, श्रेष्ठ विचारों की तन्मयता भी है। स्वाध्याय एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति का माहात्म्य इसीलिए बताया गया है।

देव संस्कृति की विशेषताएँ

आज के सांस्कृतिक संक्रमण के दौर से गुजर रहे काल में भारतीय संस्कृति पर चर्चा आवश्यक हो जाती है। मूल्य संकट से गुजर रहे इन पलों में भारतीय संस्कृति से विशेष आशाएँ हैं; क्योंकि मानवीय जीवन, अस्तित्व एवं सृष्टि का जितना गहरा एवं समग्र चिंतन इसमें मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज के व्यक्ति, परिवार, समाज एवं विश्व की समस्याओं के समाधान सूत्र इसमें निहित हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण इसे विभिन्न नामों से जाना जाता रहा है।

वेदों में उसका आदि उद्‌भव हुआ, अतः इसे वैदिक संस्कृति कहा गया। मानवीय प्रकृति एवं सृष्टि के मर्मज्ञ ऋषियों द्वारा इसका सूत्रपात हुआ, अतः इसे ऋषि संस्कृति कहा गया। इसमें निहित मूल्य एवं समाधान किसी भी कालखंड तक सीमित न होकर सार्वभौम हैं, शाश्वत हैं, अतः इसे सनातन संस्कृति भी कहा जाता है, जिसका फलक विश्वव्यापी है।

पूरी मानवता इसके दायरे में आती है, इस कारण इसे विश्व संस्कृति, मानव संस्कृति भी कहा गया और भारतवर्ष में इसका आदि उद्‌भव हुआ, अतः इसे भारतीय संस्कृति कहा गया तथा भौगोलिक दृष्टि से कभी सिंधु के नीचे के भूखंड में इसके पुष्पित-पल्लवित होने के कारण इसे हिंदू संस्कृति भी कहा गया।

यह विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति है, इस कारण इसे आदि संस्कृति भी कहा गया। वैदिक ऋषियों का उद्‌घोष—**'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'** इसी महान तथ्य की पुष्टि करता है। इस संस्कृति के कुछ आधारभूत तत्त्वों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, जो इसे विशिष्ट बनाते हैं और इसकी सामयिक उपयोगिता को भी सिद्ध करते हैं।

मानवीय जीवन को इसमें समग्रता की दृष्टि से देखा गया है। इसके पुरुषार्थ चतुष्टय में जीवन के समग्र उत्कर्ष की झलक देखी जा सकती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में यहाँ जीवनमूल्यों का प्रतिपादन मिलता है। यदि लौकिक जीवन के चलाने वाले अर्थ एवं काम जैसे मूल्यों को धर्म के आधार पर संचालित किया जाए, तो ये व्यक्ति को मोक्ष की ओर ले जाते हैं, जिसे भारतीय संस्कृति में जीवन का अंतिम लक्ष्य एवं परम पुरुषार्थ माना गया है।

सामाजिक जीवन को यहाँ वर्ण, आश्रम-व्यवस्था में वर्गीकृत किया गया है, जिसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास व्यक्ति के विकास के क्रमिक सोपान हैं। इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—मानवीय चेतना के विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, जो मानवीय गुणों पर आधारित हैं और समाज में इनके आधार पर श्रम के विभाजन की व्यवस्था भी भारतीय संस्कृति में की गई है।

अवतार परंपरा भारतीय संस्कृति की एक विशिष्टता है, जिसमें व्यक्ति के चरम विकास को सर्वगुण संपन्न ईश्वर के रूप में देखा गया है और यह पूरी तरह से विकासवाद की अवधारणा पर आधारित दिखता है, जिसके अंतर्गत मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, कल्कि (पूर्णावतार) आदि स्वरूपों का उल्लेख मिलता है।

बहुदेववाद-एकवाद भारतीय संस्कृति की एक अलग विशेषता है, जिसमें एक ही ईश्वर को कई रूपों एवं नामों से मानने की परंपरा रही है। वेदों में इस तथ्य को **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** के रूप में प्रतिपादित किया गया है। सृजन, पोषण एवं ध्वंस की शक्तियों के रूप में त्रिदेव की अवधारणा भी इसका एक प्रचलित रूप है, जिसके अंतर्गत ब्रह्मा, विष्णु और शिव को प्रतिष्ठित किया गया है।

गायत्री एवं यज्ञ को देव संस्कृति की धुरी माना जाता है। गायत्री जहाँ सद्‌बुद्धि एवं ऋतंभरा प्रज्ञा की प्रतीक है, तो वहीं यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म का प्रतीक है। गायत्री-यज्ञ के युग्म को भारतीय संस्कृति के माता-पिता की संज्ञा दी गई है। चिंतन एवं कर्म की श्रेष्ठता के आधार पर ही देव संस्कृति व्यक्ति को इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन के चरमोत्कर्ष तक ले जाती है।

यज्ञ के साथ संस्कार-प्रणाली वैदिक संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है, जिन्हें षोडश संस्कारों के

रूप में जाना जाता रहा है। जन्म के पूर्व से लेकर मरणपर्यंत ये संस्कार व्यक्ति को सांसारिक जीवन के विशिष्ट मोड़ पर सजग-सचेत करते एवं सँवारते हुए, मृत्यूपरांत देहत्याग होने पर अगली महायात्रा के लिए तैयार करते हैं।

साधु-ब्राह्मण परंपरा देव संस्कृति की अन्य विशेषता है, जिसके अंतर्गत एक वर्ग समाज के हित के निमित्त पूरे जीवन को निछावर करता आ रहा है। यह वर्ग एक अनुकरणीय एवं आदर्शपरायण जीवन जीते हुए अपने ज्ञान एवं अनुभव से जनमानस को संस्कारित करता रहा है और प्रगतिशील एवं परिष्कृत धर्मतंत्र के माध्यम से लोक-मानस में सात्त्विक दर्शन का प्रसार करता रहा है। इसी वर्ग का परमपूज्य गुरुदेव ने संत, सुधारक और शहीद के रूप में वर्णन भी किया है।

गंगा, गौ, गायत्री, गुरु और गीता भारतीय संस्कृति के विशिष्ट प्रतीक हैं। गंगा को नदियों में सबसे पावन माना जाता है, तो वहीं गौ को माता का दरजा दिया गया है। इसी तरह गायत्री को गुरुमंत्र, महामंत्र की संज्ञा दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में वेद-उपनिषदों का निचोड़ समाहित है तथा स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से ये निस्सृत हुई है। इसमें गुरु को भगवान से भी बड़ा दरजा दिया गया है, जो परम सत्य तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है।

नारी के प्रति उत्कृष्ट चिंतन भारतीय संस्कृति की एक मौलिक विशेषता रही है। **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।'** में इसके मर्म को समझा जा सकता है। यहाँ हर देवता से पहले उसकी शक्ति को स्थान दिया गया है, यथा— उमा-शंकर, सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण आदि। ईश्वर को मातृशक्ति के रूप में मानने की जैसी समृद्ध परंपरा भारत में प्रचलित रही है, उसके दिग्दर्शन अन्य संस्कृतियों में दुर्लभ हैं।

आत्मवत् सर्वभूतेषु, वसुधैव कुटुम्बकम् का जीवन दर्शन भारतीय संस्कृति की विशिष्ट पहचान रहा है, जो इसे पूरे विश्व के मार्गदर्शन की कुव्वत देता है। इसी आधार पर भारत कभी विश्वगुरु पद पर सुशोभित रहा। दूसरों पर आक्रमण की बात तो दूर, कभी भी भारत ने मात्र अपने उत्कर्ष की बात नहीं सोची। आत्मकल्याण के साथ विश्व कल्याण, लोक कल्याण, मानव कल्याण के भाव इसके चिंतन एवं चरित्र के केंद्र में रहे।

सर्वधर्म समभाव देव संस्कृति की एक और विशेषता है। विभिन्न धर्मों के प्रति आदर-सम्मान का भाव इसके महान समन्वयकारी स्वरूप को स्पष्ट करता है। आश्चर्य नहीं कि विभिन्न धर्म एवं संस्कृति के लोग भारत में आए और यहीं के होकर रह गए। धर्म, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर भिन्नता होते हुए भी भारतीय संस्कृति पूरे देश को एक सूत्र में बाँधे रखती है। विविधता में एकता की यह पूँजी भारतीय संस्कृति को अत्यधिक विशिष्ट बनाती है।

निस्संदेह भारतीय संस्कृति धर्म-अध्यात्म केंद्रित रही है, इस आधार पर इसे आध्यात्मिक संस्कृति भी कह सकते हैं। अध्यात्म इसकी आत्मा एवं प्राण है और यहाँ धर्म की उदात्ततम परिभाषा एवं व्याख्या मिलती है। व्यक्ति जहाँ खड़ा है, वहीं से उसकी प्रकृति के अनुरूप मार्गदर्शन करने का इसमें विधान रहा है। हर युग में अध्यात्म की मूर्तिमान चलती-फिरती कितनी सारी विभूतियों एवं व्यक्तित्वों से देव संस्कृति सदा शोभायमान रही है।

प्रकृति के प्रति आत्मीय भाव एवं श्रेष्ठ चिंतन भी भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान रहे हैं। यहाँ प्रकृति के हर घटक में ईश्वरीय तत्त्व को देखने की परंपरा रही है। पृथ्वी को माँ और स्वयं को इसके पुत्र कहलाने पर इस संस्कृति के पुरोधाओं को गर्व होता रहा है। इसके साथ जीव दया इसकी विशेषता है, जिसके कारण मानवेतर प्राणियों के प्रति किसी तरह के भेदभाव एवं क्रूरता आदि का देव संस्कृति में सर्वथा अभाव रहा है।

इन उपरोक्त आधारों पर भारतीय संस्कृति आज भी पूरे विश्व का मार्गदर्शन करने में सक्षम है। ये ही कारण हैं कि पूरा विश्व इसकी ओर आशा भरी निगाहों से निहार रहा है। इसके ज्ञान-विज्ञान के कितने सारे सूत्रों का लोहा विज्ञान मान चुका है और कितनों पर शोध-अनुसंधान आज भी जारी हैं।

इस आधार पर भारतीय संस्कृति पुन: विश्व संस्कृति के रूप में अपना गौरवपूर्ण स्थान पाने की ओर अग्रसर है और भारत विश्वगुरु के पद पर सुशोभित होने वाला है। प्रश्न एक ही है कि देव संस्कृति के अनुयायी होने के नाते हम इसके प्रति कितने सजग, सचेष्ट एवं निष्ठावान हैं। इसका उत्तर हम इस संस्कृति के सच्चे अग्रदूत बनकर दे सकते हैं। ❑

युगगीता —259

परमात्मा से द्वेष रखने वाले अज्ञानी, आसुरी मनुष्य

(श्रीमद्भगवद्गीता के देवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवें अध्याय की सत्रहवीं किस्त)

[श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय के सत्रहवें श्लोक की व्याख्या इससे पूर्व की किस्त में की गई थी। इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य स्वयं को श्रेष्ठ मानने वाले, घमंडी, धन और मान के मद से चूर रहने वाले तथा केवल दिखावे के लिए, अविधिपूर्वक, दंभ से भरकर नाम मात्र के यज्ञों को करते हैं। जैसी कि पूर्व में चर्चा की गई है—आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्यों की मूल रुचि अपने अहंकार की पूर्ति में ही होती है, इसलिए उनको लगता है कि वे श्रेष्ठतम हैं। उनसे बढ़कर और उनसे ऊपर कोई नहीं हो सकता। उनके लिए प्रगति का अर्थ भी प्रतिद्वंद्विता ही हो जाता है। वे स्वयं जीवन में आगे बढ़ें या प्रगति करें, इतने से उनको संतोष नहीं होता, बल्कि वो दूसरों की तुलना में ज्यादा आगे बढ़ें; ऐसा वे चाहते हैं। ये ही उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य हो जाता है। ऐसी प्रवृत्ति वाले मनुष्य यदि धर्म भी करते हैं तो उनका धर्म भी धन के प्रदर्शन और मद की संतुष्टि में बदल जाता है। वे मंदिर बनवाते हैं तो चाहते हैं कि वो सोने से जड़ा हुआ हो, सबसे बड़ा, सबसे भव्य और सबसे विशाल हो। वे यज्ञ भी करते हैं तो उसमें निहित देवत्व को, त्याग-बलिदान के भाव को भुला बैठते हैं और करोड़ों रुपयों के प्रदर्शन को यज्ञ मानने लग जाते हैं। देखा जाए तो यह उनकी अहंकार की यात्रा का ही एक अंग है। उनके लिए धर्म का मात्र इतना प्रयोजन रह जाता है कि वो धर्म भी उनके अहंकार को, उनकी श्रेष्ठता को सिद्ध करता दिखाई पड़े।

श्रीभगवान कहते हैं कि आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य दूसरों से प्रतिस्पर्धा रखने के कारण यज्ञादि कर्म करने लग जाते हैं, ताकि उन्हें प्रसिद्धि मिल सके। ईश्वर और प्रकृति पर विश्वास न होने के कारण उनकी दृष्टि शास्त्रोक्त विधि पर भी नहीं रहती। इसी कारण उनके ये सारे प्रयत्न आडंबर बन जाते हैं और उनके द्वारा किए जा रहे धर्मार्थ कार्य भी एक तरह का पाखंड दिखाई पड़ते हैं। आसुरी वृत्ति वाले मनुष्य यह पाखंड करते हुए भी स्वयं को श्रेष्ठ मानने के अभिमान और घमंड से भरे रहते हैं।]

अगले श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥18॥

शब्दविग्रह—अहङ्कारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, च, संश्रिताः, माम्, आत्मपरदेहेषु, प्रद्विषन्तः, अभ्यसूयकाः॥

शब्दार्थ—अहंकार (**अहङ्कारम्**), बल (**बलम्**), घमंड (**दर्पम्**), कामना, (और) (**कामम्**), क्रोधादि के (**क्रोधम्**), परायण (**संश्रिताः**), और (**च**), दूसरों की निंदा करने वाले पुरुष (**अभ्यसूयकाः**), अपने और दूसरों के शरीर में (स्थित) (**आत्मपरदेहेषु**), मुझ अंतर्यामी से (**माम्**), द्वेष करने वाले होते हैं (**प्रद्विषन्तः**)।

अर्थात—वे अहंकार, बल, दर्प, कामना तथा क्रोध का आश्रय लेने वाले आसुरी वृत्ति के मनुष्य दूसरों की निंदा करते हैं तथा दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अंतर्यामी से द्वेष करने वाले होते हैं। श्रीभगवान कह रहे हैं कि आसुरी वृत्ति वाले मनुष्य अपनी जिद पर अड़े रहते हैं और अपने मिथ्या ज्ञान को ही सच मानते रहते हैं। वे स्वयं दुःखी होते हैं, इसलिए औरों को दुःख देने में उन्हें आनंद आता है। उन्हें किसी में गुण दिखाई नहीं पड़ता और दूसरों में मात्र दोष

दिखाई पड़ते हैं, इसलिए वे अपना सारा मनोयोग उनकी निंदा करने में तथा उनके प्रति दोषदृष्टि रखने में लगा देते हैं। ऐसे मनुष्यों का अहंकार उन्हें उनके बल का प्रयोग दूसरों को परेशान करने में, उन्हें धमकाने, मारने-पीटने तथा विपत्तिग्रस्त करने में करने के लिए प्रवृत्त करता है। काम का आश्रय लेकर वे दुराचार करते हैं और क्रोध के वशीभूत होकर वे कहते हैं कि जो भी हमारे प्रतिकूल चलेगा, हम उसका अनिष्ट करेंगे। ऐसे मनुष्य अपनी समस्त ऊर्जा दूसरों के दोष देखने में, उनकी निंदा करने में, उनके प्रति द्वेष रखने में लगा देते हैं; क्योंकि उन्हें सर्वत्र दोष-ही-दोष दिखाई पड़ते हैं।

महाभारत में इस संदर्भ में एक कथा आती है कि एक बार अर्जुन ने भगवान कृष्ण से पूछा—"भगवान! संसार में दुःख और सुख किस कारण हैं?" भगवान कृष्ण ने उत्तर दिया—"अर्जुन! दुःख और सुख का अंतर मनुष्य के दृष्टिकोण के अंतर के कारण है। जिसका दुनिया को देखने का जैसा दृष्टिकोण है, उसे दुनिया वैसी ही दिखाई पड़ती है।" अर्जुन ने इसे विस्तार से समझाने का अनुरोध किया तो भगवान ने दुर्योधन और युधिष्ठिर को बुलाकर एक-एक स्वर्णमुद्रा दी। इसके बाद वे दुर्योधन से बोले—"दुर्योधन! तुम यह मुद्रा लेकर नगर में जाओ और जो व्यक्ति सबसे गुणवान दिखे, उसे दे देना। शाम तक वापस जरूर लौट आना।"

इसके बाद उन्होंने युधिष्ठिर को भी एक स्वर्णमुद्रा दी और बोले—"युधिष्ठिर! तुम यह मुद्रा लेकर नगर में जाओ और जो व्यक्ति सबसे ज्यादा दोषयुक्त दिखे, उसे दे देना।" शाम को दोनों ही मुद्रा वापस लेते आए। दुर्योधन को पूरे नगर में एक भी व्यक्ति गुणवान नहीं दिखा; क्योंकि उसकी दोषपूर्ण दृष्टि ने अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति में भी कोई-न-कोई दोष देख ही लिया। इसके विपरीत युधिष्ठिर ने बुरे-से-बुरे व्यक्ति में भी कोई-न-कोई गुण खोज ही लिया। अर्जुन समझ गए कि आसुरी वृत्ति वाले मनुष्यों की दृष्टि ही ऐसी होती है कि वे दूसरों में दोष खोजें।

श्रीभगवान बोले—"ऐसी वृत्ति वाले मनुष्य यह भी भूल जाते हैं कि हरेक के शरीर में मैं स्वयं अंतर्यामी परमात्मा ही तो स्थित हूँ और वे मुझसे भी द्वेष करने लग जाते हैं। देखा जाए तो परमात्मा को स्वीकार करना आसुरी वृत्ति वाले लोगों के लिए बहुत कठिन है। इसी कारण हिरण्यकशिपु प्रह्लाद से बहस करने लगा कि भगवान कहाँ हैं? मुझे भी दिखा। ऐसा इसलिए; क्योंकि वे यह समझते हैं कि वे स्वयं ही तो श्रेष्ठतम हैं और जो स्वयं को श्रेष्ठ मानता है, स्वयं से ऊपर किसी को भी न मानता हो—वो परमात्मा को कैसे मान सकता है? श्रीभगवान कहते हैं कि इसीलिए ऐसा व्यक्ति मुझ अंतर्यामी से ही द्वेष करने लग जाता है।

"इसके विपरीत दैवी प्रकृति से युक्त मनुष्य भक्ति, ज्ञान तथा निष्काम कर्म को करते हुए सर्वत्र परमात्मा की ही उपस्थिति को अनुभव करते हैं। वे कर्त्तापन के अभिमान को छोड़कर सारे कर्मों को करते हैं। वे अपनी आत्मा के अंदर ही सुख और स्वतंत्रता को अनुभव करते हैं। वे प्रकृति के तीनों गुणों से परे रहते हैं। उनमें अभिमान, दर्प, अहंकार, क्रोध, राग, द्वेष, इंद्रियलोलुपता इत्यादि नहीं होते और न ही उन्हें इस बात की चिंता होती है कि दूसरे लोग उन्हें क्या समझते हैं और न ही उन्हें अपनी कीर्ति, नाम या प्रसिद्धि की चाहत होती है।

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥

अर्थात—उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम; ये छह गुण जिसके पास होते हैं, देवता उसकी सहायता करते हैं।

"सच तो यह ही है कि हमारा अस्तित्व ही क्या है? हम कल नहीं थे, आज हैं और हो सकता है कि कल न हों। हम एक बुलबुले के रूप में इस सृष्टिरूपी सागर में कुछ क्षणों के लिए उभरते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। हम इस सृष्टि का एक छोटा-सा अंश हैं। दैवी प्रकृति वाला व्यक्ति इस बात को जानता है कि वो एक अंश मात्र है, पर आसुरी वृत्ति वाला व्यक्ति अज्ञान व अहंकार के वशीभूत होकर अंशरूप होते हुए भी स्वयं को केंद्र मानने लग जाता है। अंश यदि सबको मिटाकर अपने को बचाने की सोचे तो इससे बढ़कर पागलपन क्या होगा? ऐसा मानने वाला एक-न-एक दिन खुद ही मिट जाता है। आसुरी व्यक्ति वाले दूसरों में दोष देखते-देखते अपना भी पराभव सुनिश्चित कर बैठते हैं। दूसरों के भीतर बैठे परमात्मा को नकारते-नकारते एक दिन वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं।" (क्रमशः)

धरती पर सबसे शीतल क्षेत्र

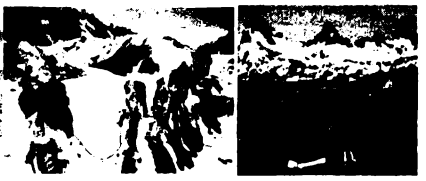

कड़ाके की ठंढ प्रारंभ हो चुकी है, देश का अधिकांश हिस्सा शीत लहर की चपेट में है। ठंढ की मार कितनी भयंकर हो सकती है, इसे हर भुक्तभोगी जानता है और यदि तैयारी पूरी न हो तो यह जानलेवा भी साबित हो सकती है, लेकिन धरती पर ठंढ के कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। प्रस्तुत है धरती के ऐसे ही सबसे ठंढे क्षेत्रों की एक झलक, जिसको जानने के बाद शायद हमारी ठंढ की शिकायत कुछ कम हो जाए और तैयारी भी बेहतर हो जाए।

पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव सबसे ठंढे क्षेत्रों में आते हैं, क्योंकि यहाँ धूप बहुत कम पड़ती है। धरती पर अंटार्कटिका धरती का सबसे ठंढा स्थान है, जो विश्व के सात महाद्वीपों में सबसे ठंढा महाद्वीप है। मानव-बस्तियों से हजारों मील दूर इस बेहद दुर्गम क्षेत्र में हवाएँ 350 किलोमीटर प्रतिघंटे की रफ्तार से चलती हैं। यहाँ का क्षेत्रफल 1.4 करोड़ वर्गकिलोमीटर है, जो ऑस्ट्रेलिया से भी बड़ा है।

अंटार्कटिका की बरफ की औसत मोटाई 1.6 किलोमीटर है। इस महाद्वीप में अनुमानत: मात्र 2000 वर्गकिलोमीटर खुली जमीन है। साल भर में यहाँ केवल 20 ही दिन तापमान शून्य से ऊपर रहता है। यहाँ कोई स्थायी मानवीय बस्तियाँ नहीं हैं, मात्र विभिन्न देशों के अनुसंधान केंद्र यहाँ स्थापित हैं।

सोवियत रूस के वोस्टोक नामक अनुसंधान स्टेशन में 24 अगस्त, 1960 को तापमान माइनस 88.3 डिगरी सेंटीग्रेड मापा गया था, जो पूर्वी अंटार्कटिका आइस शीट के केंद्र में स्थित है। अगस्त यहाँ का सबसे ठंढा मास होता है, जब तापमान माइनस 89.2 डिगरी तक गिर जाता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि यह पृथ्वी पर सबसे ठंढा बिंदु है; क्योंकि स्टेशन के नीचे की बरफ 3.7 किलोमीटर मोटी है।

हाल के वर्षों में यहाँ तापमान को माइनस 92 डिगरी सेंटीग्रेड तक गिरते देखा गया है। 21जून, 1983 को दर्ज किया गया यहाँ का तापमान माइनस 128.6 डिगरी फारेनहॉइट था। वोस्तोक के पश्चात प्लेट्यू स्टेशन अंटार्कटिका का दूसरा सबसे ठंढा स्थान है, जो एक निष्क्रिय अमेरिकी अनुसंधान केंद्र है। यहाँ जुलाई का महीना सबसे ठंढा रहा है, जब यहाँ का तापमान माइनस 123 डिगरी फारेनहाइट तक मापा गया था।

स्थायी रूप से आबाद सबसे ठंढे क्षेत्र रूस में आते हैं। रूस के साइबेरिया क्षेत्र में स्थित ओमय्याकोन और वेरखोयस्क विश्व के दो ऐसे स्थायी आबादी बाले स्थान हैं, जहाँ जनवरी में तापमान हर दिन माइनस 76 डिगरी फारेनहाइट से नीचे रहता है। वर्ष के दिसंबर, जनवरी और फरवरी के ठंढे मासों में यहाँ का औसतन तापमान माइनस 58 डिगरी फारेनहाइट से भी बहुत नीचे रहता है।

ओमय्याकोन को पृथ्वी का सबसे ठंढा आबाद क्षेत्र माना जाता है, जहाँ जमीन स्थायी रूप से जमी हुई है। यहाँ तापमान माइनस 67.8 डिगरी सेंटीग्रेड (90 डिगरी फारेनहाइट) तक गिर जाता है। यहाँ पर अभी तक का सबसे कम तापमान माइनस 71.4 डिगरी सेंटीग्रेड देखा गया है। यहाँ का सबसे कम दर्ज तापमान माइनस 96.2 डिगरी फारेनहाइट है।

इसी तरह रूस में याकूतिया गणराज्य में स्थित वेरखोयस्क शहर में रिकॉर्ड तापमान माइनस 67.8 डिगरी सेंटीग्रेड तक गिर गया था, जो 19 वीं शताब्दी के अंत में दर्ज किया गया था। साखा गणतंत्र का यह शहर गरमी और सरदी के बीच सबसे अधिक तापमान अंतर के लिए जाना जाता है।

यहाँ का न्यूनतम तापमान माइनस 93.6 डिगरी फारेनहाइट रहा है। यहाँ की कुल आबादी 1400 के लगभग है। शहर में एक हवाई अड्डा, एक नदी बंदरगाह, एक फर संग्रह डिपो और एक हिरन बढ़ाने का केंद्र भी है। वेरखोयस्क पृथ्वी पर सबसे अधिक तापमान सीमा (सरदी में माइनस 67.8 डिगरी सेंटीग्रेट से 37.3 डिगरी सेंटीग्रेड) के लिए गिनीज वर्ल्ड रिकॉर्ड में स्थान रखता है।

याकूत्स्क धरती का सबसे ठंढा महानगर है, यह इतना ठंढा है कि पूरा शहर पर्माफ्रोस्ट अर्थात बरफ जमी मिट्टी पर बना हुआ है। अधिकांश भवन लकड़ी या कंकरीट के

खंभों या स्तंभों पर खड़े हैं, इसलिए वे पर्माफ्रोस्ट को पिघलाते नहीं।

इस नगर का अस्तित्व सन् 1632 में आया, जब येनेसी कॉसेक्स ने लीना नदी के किनारे अपना बाड़ा बनाया। सरदियों में लगभग तीन माह यहाँ का तापमान माइनस 40 डिगरी फारेनहाइट के आस-पास रहता है। पूर्वी साइबेरिया का यह शहर विश्व का सबसे ठंढा शहर माना जाता है।

ठंढे देशों में रूस के बाद ग्रीनलैंड का नाम आता है। यह आकर्टिक और अटलांटिक महासागर के बीच सबसे बड़ा टापू भी है। ग्रीनलैंड को दुनिया का सबसे ठंढा देश माना जाता है। जहाँ गरमियों की ऊँचाई पर तापमान अक्सर शून्य के करीब रहता है और बहुत कम ही 10 डिगरी तक पहुँचता है।

कुछ क्षेत्रों में जनवरी का औसत तापमान माइनस 27 डिगरी सेंटीग्रेड रहता है। ग्रीनलैंड के उत्तरी बरफीले भाग में न्यूनतम तापमान माइनस 86.8 डिगरी फारेनहाइट दर्ज किया गया है। आइज्मिट ग्रीनलैंड उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे ठंढे स्थान में से एक है। इसमें हर जगह बरफ है, जहाँ का तापमान माइनस 85 डिगरी फारेनहाइट तक दर्ज किया गया है।

ग्रीनलैंड के बाद कनाडा ठंढ के लिए जाना जाता है। कनाडा भी विश्व में सबसे ठंढे देशों में से एक है, जहाँ का औसतन तापमान माइनस 5.6 डिगरी सेंटीग्रेट रहता है। यहाँ के यूकोन स्थित स्नैग गाँव को सबसे ठंढा माना जाता है।

स्नैग गाँव बीवर क्रीक, यूकोन, कनाडा के पच्चीस किलोमीटर दक्षिण में अलास्का राजमार्ग की एक छोटी सड़क पर स्थित है। यह सफेद नदी के एक कटोरे के आकार की घाटी में स्थित है। यहाँ सबसे ठंढा मास जनवरी का रहता है, जब तापमान माइनस 81.4 डिगरी फारेनहाइट तक गिर जाता है।

फोर्ट सेल्किर्क, यूकोन, कनाडा में पेल्ली नदी के संगम पर एक व्यापार चौकी है। सन् 1950 में इस जगह को अत्यधिक ठंढ के कारण छोड़ दिया गया था। अब यह पुन: आबाद है, जहाँ के लिए कोई सड़क नहीं है। आगंतुक या तो नाव से आते हैं या विमान से। जनवरी यहाँ का सबसे ठंढा मास रहता है, जब तापमान माइनस 74 डिगरी फारेनहाइट तक गिर जाता है।

प्रॉस्पेक्ट क्रीक, अलास्का, संयुक्त राज्य अमेरिका का सबसे ठंढा स्थान है। यहाँ उप आर्कटिक प्रकार का मौसम रहता है, जिसमें सरदियाँ लंबी तथा गरमियाँ बहुत छोटी होती हैं। 643 फीट की ऊँचाई पर स्थित प्रॉस्पेक्ट क्रीक में सरदियों का तापमान माइनस 80 डिगरी फारेनहाइट तक गिरते पाया गया है। यह स्थान कई खनन अभियानों का घर रहा है।

यह ट्रांस अलास्का पाइपलाइन सिस्टम के निर्माण का भी एक शिविर रहा है। अमेरिका में नोर्थ डेकोटा प्रांत 2019 का सबसे ठंढा प्रांत रहा। यहाँ औसतन माइनस 27.7 डिगरी सेंटीग्रेड तापमान रहा। रोजर्स पास मोंटाना संयुक्त राज्य अमेरिका में दूसरा सबसे ठंढा स्थान है, जो मोंटाना राज्य में महाद्वीपीय विभाजन पर स्थित है। रोजर्स पास को ग्रेट फाल्ज और मिसौला के बीच सबसे अच्छा मार्ग माना जाता है। यहाँ का तापमान 70 डिगरी फारेनहाइट तक दर्ज किया गया है।

भारत में सबसे ठंढा आबाद क्षेत्र द्रास को माना जाता है, जिसे लद्दाख का प्रवेश द्वार भी कहा जाता है। सरदियों में यहाँ का औसतन तापमान माइनस 12 डिगरी सेंटीग्रेड तक रहता है और न्यूनतम तापमान 23 डिगरी सेल्सियस तक गिर जाता है।

यहाँ का रिकॉर्ड न्यूनतम तापमान माइनस 43 डिगरी सेंटीग्रेड दर्ज किया गया है। सियाचिन गैर आबादी बाला सबसे ठंढा क्षेत्र है, जहाँ भारतीय सैनिक देश की रक्षा हेतु तैनात हैं। विश्व के इस सबसे ऊँचे रणक्षेत्र का औसतन तापमान माइनस 30 डिगरी सेंटीग्रेड रहता है, जो अपने चरम पर माइनस 60 डिगरी सेंटीग्रेड तक गिर जाता है।

विश्व भर के इन ठंढे क्षेत्रों को देखकर लगता है कि मानवीय जीवट और मानव भी क्या चीज है, जो कितनी भी विषम परिस्थितियों में रह सकता है, जीवनयापन कर सकता है। कई जगह शोधकार्य चल रहे हैं, तो कुछ दुर्गम स्थलों पर देश के सैनिक रक्षाहित प्रहरी की भाँति तैनात हैं और अनेक दूसरे आबाद स्थलों में तो दैनिक जीवन की सामान्य गतिविधियाँ भी चल रही हैं। इस विषय पर चर्चा करने का उद्देश्य यह याद दिलाना है कि इनसान को ईश्वर ने ऐसी क्षमताएँ दी हैं कि वह किन्हीं भी परिस्थितियों में रह सकता है। ❑

परमवंदनीया माताजी की अमृतवाणी

करोड़ों का परिवार—समर्पण है आधार

महापुरुषों के जीवन जीने की रीति-नीति सदा ही विशिष्ट होती है एवं अनेकों के लिए प्रेरणापुंज का कार्य भी करती है। अपने इस प्रस्तुत उद्बोधन में परमवंदनीया माताजी, पूज्य गुरुदेव के साथ उनके संबंध को आधार बनाते हुए इसी ओर इशारा करती हुई दिखाई पड़ती हैं। वे कहती हैं कि परमपूज्य के रूप में जब एक अवतारी चेतना उनके जीवन में आई तो उन्होंने उनके जीवन-उद्देश्य के प्रति स्वयं को भी वैसे ही समर्पित किया, जैसे भामती ने कय्यट को और शरद चंद्र बोस की पत्नी ने उनके प्रति स्वयं को समर्पित किया। परमवंदनीया माताजी कहती हैं कि इस समर्पण का परिणाम यह निकला कि गायत्री परिवार के रूप में एक ऐसा समूह उनको प्राप्त हुआ, जो एक बड़े उद्देश्य के लिए सदा संकल्पित नजर आता है। आइए हृदयंगम करते हैं उनकी अमृतवाणी को.....

त्रिभुवननाथ को हमने पाया (गीत)

गायत्री मंत्र हमारे साथ-साथ—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

बेटियो! हमारे प्रज्ञा परिजनो! सामान्य गृहस्थ के रूप में जब आचार्य जी हमारे जीवन में आए, तो हमने देखा, समझा और ग्रहण किया कि यह कोई ऊँची आत्मा हैं—यह हमसे भी यही अपेक्षा करते हैं कि हमको भी इसी तरीके से जिंदगी जीनी चाहिए, जैसी कि उनकी स्वयं की है। न मालूम क्यों? यह हमारे जन्मजात संस्कार ही कहना चाहिए कि मूल प्रवृत्ति जो थी, वह संत जैसा जीवन जीने की, ऋषि जैसी जिंदगी जीने की अपनी कल्पना थी।

पहले जब तक वे हमारी जिंदगी में नहीं आए थे, उससे पूर्व हमारी एक कल्पना थी कि जहाँ कहीं भगवान ले जाए, तो वहाँ ले जाए, जहाँ हमारी आत्मा को शांति मिले और संतोष मिले। हमें धन नहीं चाहिए। हमको वैभव नहीं चाहिए। हमको शांति और संतोष चाहिए और हमको चाहिए वह सेवा, जिसमें कि हमको आत्मसंतोष और शांति प्राप्त हो। हमने उस ऋषि की, उस संत की, उस भगवान की चरणरज को माथे पर लगा करके यह पाया कि उनके सान्निध्य में रह करके हमको सब कुछ प्राप्त हो सकता है और प्राप्त हो गया। हमने उनको पा लिया, तो तीनों लोकों का राज्य पा लिया। कहते हैं कि भगवान त्रिभुवन का स्वामी है। हमने अपने मन में समझ लिया कि त्रिभुवन के स्वामी को हमने पा लिया और हमें सब कुछ मिल गया।

हमको एक ऋषि मिले, भगवान मिले

हमको एक ऐसा ऋषि मिल गया, संत मिल गया और भगवान मिल गया। वह सबके लिए है कि नहीं है, हमको नहीं मालूम, पर हमारे लिए जरूर है और जो कुछ भी आपको दिखाई पड़ता है, वह उन्हीं की देन है। जो कुछ भी योग्यता दिखाई पड़ती है, कोई तप का अंश दिखाई पड़ता है, विश्वास की मनोभूमि जो कुछ भी दिखाई पड़ती है, वह उन्हीं की देन है और इसमें अपना यह संकल्प रहा कि हम हर परिस्थिति में साथ देंगे और हमको देना चाहिए था और दिया भी। हमने भावनाओं से दिया। हमारे ऊपर कभी लादा नहीं गया। उन्होंने जप किया, ध्यान किया, सामाजिक सेवा

की अथवा लेखन-साधना की, जो भी किया; लेकिन हम पर कभी लादा नहीं गया।

बेटे! हमने वह भावनाएँ रखीं, अपने अंदर वह सामर्थ्य जुटाई कि एक और एक होकर के ग्यारह बन गए। नहीं साहब! एक और एक मिल करके दो होते हैं। हाँ होते हैं, लेकिन एक और एक मिलाकर बराबर रख दिए जाएँ, तो एक-एक ग्यारह होते हैं। हम एक और एक ग्यारह बनकर रहे और अपनी सामान्य गृहस्थी चलाते रहे। देखने में वह सामान्य थी; लेकिन हमारी अंतरंग में जो भूमिका थी, वह असामान्य थी। हमारी दोनों की जो अंतरंग भूमिका थी, वह असामान्य मनोभूमि थी और हमने उसी तरीके से जीवन जिया, जिस तरीके से भामती और कय्यट ने। कय्यट ग्रंथ लिखते और भामती रस्सी बँट करके अपने जीवकोपार्जन का प्रबंध करती थीं।

वो गंगा, हम लहर

हमने जीविकोपार्जन तो नहीं किया; लेकिन हमने उसी तरीके से अपनी गृहस्थी को सँजोया, परिवार को सँजोया और जो सामाजिक उत्तरदायित्व थे, वह भी हमने सँजोये। हमारी मनोभूमि बिलकुल हूबहू वही थी, जैसी कि शरद चंद्र बोस की और उनकी पत्नी की थी। शरद चंद्र बोस के पास इतना पैसा नहीं था, कि वे रोज नाव से जा सकें और उनको जाना जरूरी था; लेकिन विमला उनकी पत्नी थीं और उन्होंने वह सामर्थ्य और वह हिम्मत जुटाई और कहा कि हम एक और एक ग्यारह हैं। यह अनुभव नहीं हो सकता कि हमारे पास पैसे नहीं हैं। हमारी भुजाएँ हैं, हमारी ताकत है और हमारी कुब्बत है। उस कुब्बत के सहारे हम आगे की मंजिल को पार कर सकते हैं।

चलिए हम नाव को खेएँगे; क्योंकि हमको नाव खेना आता है। चलिए हम पतवार बनते हैं और आप जिंदगी की नाव को आगे ले चलेंगे और इस नाव को धकेलेंगे। मैं शरद चंद्र बोस का आपको उदाहरण दे रही थी कि शरद चंद्र बोस के लिए उनकी पत्नी ने मल्लाह का काम किया और नाव किनारे पर ले गई; लेकिन मैं तो यह कह रही हूँ कि वह सामर्थ्य और वह हिम्मत हमने जुटाई कि आइए हम और आप साथ-साथ चलते हैं। आप नाव हैं और हम नाविक हैं, अथवा आप नाविक हैं और हम नाव हैं। आप गंगा हैं और हम लहर हैं। आप नदी हैं और हम किनारा हैं। आइए, हम दोनों मिल करके इस नाव को किनारे पर लगाएँगे और हमने शपथपूर्वक यह संकल्प लेकर के अपनी जिंदगी आरंभ की और आरंभ से लेकर अब हमारा अंत होने को आ रहा है, दिनोदिन हमारी श्रद्धा और हमारी निष्ठा एकदूसरे के लिए बढ़ती गई।

बेटे! आज इन उदाहरणों की आवश्यकता आपको सुनाने की क्यों पड़ गई? इसलिए पड़ गई कि परिजन कुछ हमारे व्यक्तिगत जीवन से सीखना चाहते हैं, कुछ समझना चाहते हैं। समझना चाहते हैं तो क्यों न मैं अपने बच्चों से जीवन के वह अंश कहूँ, जिन्हें उन्होंने जाना नहीं है। सबको कहना तो आवश्यक नहीं है; लेकिन जिनसे जो शिक्षा मिल सकती है, उसे बच्चों से मैं क्यों न कहूँ? अपने बच्चों से अपने दिल की बात क्यों न कहूँ? कहना चाहिए। हमने जो जीवन जिया, हमने उनके जीवन से जो सीखा और हमने जो पाया, वह इतना पाया है कि हम हजारों जन्म नहीं, लाखों जन्म नहीं; बल्कि करोड़ों जन्म हमको लेने पड़ें, तब भी उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। हमने जिंदगी में इतना अधिक पाया है। निकट रह करके हमने समझा है।

आपके लिए वे सामान्य हो सकते हैं, लेकिन वस्तुतः वे सामान्य नहीं हैं। वे असामान्य हैं। दिखने में उनकी गतिविधियाँ सब सामान्य होती हैं, लेकिन वे असामान्य जैसी हैं। गायत्री तपोभूमि का निर्माण हुआ, तो उन्होंने अपनी सारी-की-सारी जमींदारी का बॉण्ड गायत्री तपोभूमि में लगा दिया। हमारे पास जेवर था। हमने कहा—इस जेवर का हमें क्या करना? हमको रोटी खानी है। कपड़ा पहनना है। इसके लिए कोई घाटा नहीं है। भगवान ने हाथ-पाँव दिए हैं और भगवान ने आप जैसा पति दिया है, तो फिर हमें और किस चीज की जरूरत है। हमें जरूरत नहीं। हमें तो हरिश्चंद्र और तारामती के तरीके से रहना है। हमने सारा-का-सारा जेवर गायत्री तपोभूमि को दे दिया।

सबने मना किया, रिश्तेदारों ने मना किया। हमने कहा—नहीं, जिस चीज की हमें आवश्यकता नहीं, जो हमारे गुणों की खुराक नहीं है। हमारे स्वभाव की नहीं है, तो हम उसे लेकर के क्या करेंगे। हम चोरों को निमंत्रण देंगे, डकैतों को निमंत्रण देंगे कि आइए हमारे पास जेवर हैं, ले जाइए। क्यों न इसे उस कार्य में खरच किया जाना चाहिए, जिसके लिए वे तिल-तिलकर अपने को समर्पित करते जा रहे हैं। सारा-का-सारा पैसा उन्होंने बॉण्ड का उसमें लगा

दिया। हम भी उसी गति से चले। अपना जीवन मितव्ययिता से जिया।

कोई भूखा न लौटा

हमारे यहाँ से कभी भी कोई भूखा नहीं गया। जब तक गायत्री तपोभूमि नहीं बनी थी, उससे पहले भी जो लोग आते थे और बाद में भी आए। उनके ठहरने का प्रबंध वहाँ होता रहा। पहले घर में ही होता था, चाहे वह कितनी रात गए क्यों न आते थे। तो चाहे हमारे घर में उस समय कोई और चीज नहीं होती थी, सब्जी नहीं होती थी, दही नहीं होता था, जिससे हम अतिथि का सत्कार करें, पर इतना जरूर होता था कि हम उसको खिचड़ी बना करके खिला सकते थे। उस खिचड़ी में कितने आनंद की अनुभूति होती थी, अभी तक जिन परिजनों ने हमारे हाथ का बना भोजन कभी किया होगा, वे अब भी यह कह देते हैं कि हमने माताजी के हाथ का बना खाना खाया है। इतना प्यार और दुलार हमें कहीं नहीं मिला।

बेटे! वस्तु तो मिल जाती है, पर वह संस्कार और भावनाएँ नहीं मिलतीं। यह हमने कहाँ से सीखा? हमने उनके व्यक्तिगत जीवन से सीखा और साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े। हमने आगे ही कदम बढ़ाया। हमने कहा कि हम भी ऐसा ही जीवन जिएँगे। आपका जैसा जीवन है, हूबहू हम भी कोशिश करेंगे कि हम भी इसमें ढल जाएँ और इसमें समर्थ हो गए। समर्थ क्यों हो गए? क्योंकि इसमें हमारी भावनाएँ थीं। इसमें हमारी आस्था थी और हमको चाह थी कि हम लोक-मंगल के लिए कोई कड़ी बन जाएँ और हम भी इसमें कोई ईंट और गारे का काम करें।

हमने पाया कि हमको एक ऐसा साथी, ऐसा मार्गदर्शक मिल गया कि इसके सहारे चला जा सकता है और लंबी मंजिल पार की जा सकती है। जैसी भी परिस्थिति थी, हम घर का खरच मितव्ययिता से चलाते रहे, थोड़े में चलाते रहे। दो सौ रुपये में घर का खरच चलाते रहे। इसका मतलब यह नहीं था, कि हमारे पास पैसा नहीं था। था हमारे पास, लेकिन हमने अपने लिए नहीं खरच किया। वह दूसरों के लिए है। हमें खाते हुए बच्चे अच्छे लगते हैं। हमें स्वयं खाना हराम लगता है। हमारे मुँह में नहीं घुसता। हमारी जीवात्मा धिक्कारती है।

यह हमारा परिवार है। अपना व्यक्तिगत? नहीं, व्यक्तिगत कहाँ रहा। हम व्यक्तिगत कहाँ रहे। हम तो अब सारे समाज के हैं और सारे राष्ट्र के हैं और सारे विश्व के हैं। हमारा गायत्री परिवार, यह हमारा कुटुंब है और अखण्ड ज्योति परिवार हमारा कुटुंब है। युग निर्माण परिवार हमारा कुटुंब है। गायत्री तपोभूमि हमारा परिवार है। शांतिकुंज हमारा परिवार है। ब्रह्मवर्चस हमारा परिवार है। लाखों और करोड़ों की संख्या में जो हमारे परिजन हैं, वे हमारे परिवार हैं। उन परिवारों को जब उतना मुहैया नहीं है, तो अकेले खा करके हमारा क्या बनेगा?

हमने 200 रुपये महीने में खरच चलाया। बाकी जो बचा, वह सब समाज के लिए गया। चाहे उसका नाम रिश्तेदार हो, चाहे उसका नाम कोई भी क्यों न हो, किसी भी वर्ग का क्यों न हो, किसी भी जाति का क्यों न हो। उसमें न कोई जाति का ध्यान रखा गया कि यह समीपवर्ती है कि यह हटकर है। यह ब्राह्मण है कि और है। नहीं जो हमारे पास हैं, वे हमारे हैं। वे हमारे कुटुंब हैं। वे हमारे बच्चे हैं। अरे! जाति क्या होती है? जाति कुछ नहीं होती। संत और ऋषि के यहाँ जाति नहीं होती। गुण, कर्म, स्वभाव की समरूपता ही परिवार होता है। परिवार में जैसा कि मैंने कल कहा था कि परिवार में कौन-कौन होते हैं? परिवार में अच्छे लोग भी होते हैं और बुरे भी होते हैं, पर जौहरी जो होता है, वह उसकी चमक देखता है।

बच्चों में पिता देखता है कि ये मेरे बालक हैं। संस्कारी हैं तो क्या और कुसंस्कारी हैं तो क्या? कुसंस्कारी हैं तो इनके संस्कार बनाएँगे। इनको फोकट की और हराम की कमाई से जीवनयापन करने वाला व्यक्ति नहीं; वरन श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाला श्रेष्ठ संस्कार इनको देंगे। वही हमने अपने बच्चों से लेकर के, परिजनों से लेकर वही हमारी निधि थी, वही हमारी धरोहर थी। वही हमने सिखाया है और वही हम अमल में लाए हैं और वही हम बच्चों से कराते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि हम अपने बच्चों को कुछ दे नहीं सकते या उनको खिला नहीं सकते या हमारे पास नहीं है। नहीं बेटे, हम तो उनके संस्कार बनाते हैं।

शांतिकुंज में जितने भी हमारे बच्चे हैं, जब हम उन पर यह दृष्टि डालते हैं कि ये अभाव में हैं, लेकिन इसके साथ में शिक्षण भी है। शिक्षण है तो वह अभाव खटकता नहीं है। हम उनको दे सकते हैं और ज्यादा खिला सकते हैं; लेकिन हमने देखा कि इनको ज्यादा हुआ तो इनके संस्कार खराब हो जाएँगे। वे संस्कार से गिर जाएँगे और कुसंस्कारी

हो जाएँगे। हमें इन बच्चों में त्याग और तप की भावनाएँ भरनी हैं। लोक-मंगल की भावनाएँ इनमें भरनी हैं। सेवाएँ इनको सिखानी हैं। फिर ये हमारे हैं और हमारे पास हैं। हर संभव हमारा यही प्रयास रहता है कि हम इसी तरीके से इन्हें बनाएँ।

बेटे! किस तरीके से बनाएँ? इसमें एक नाम आता है—सरदार वल्लभ भाई पटेल का। उनके पिताजी का नाम था—झबेर भाई पटेल। जब वे छोटे थे, तब उनके पिताजी पुलिस इन्स्पेक्टर थे। एक दिन कोई बाहर का बड़ा मेहमान आया, तो उन्होंने उनके भोज में बढ़िया पकवान बनवाए और खीर बनवाई। खीर बनवाई तो उनका जो लड़का था, जिनको झबेर कहते हैं, वह जिस रास्ते में निकल रहा था, वहाँ एक महिला का बच्चा रो रहा था। उन्होंने कहा कि माँ! यह बच्चा क्यों रो रहा है? चुप करा लो। बेटे, यह भूखा है। भूखा है तो इसको दूध पिलाओ। उसने कहा कि बेटे, आज का दूध जो था वह तुम्हारे पिता के यहाँ चला गया? क्यों? सारे गाँव का दूध आज तुम्हारे पिताजी के यहाँ चला गया; क्योंकि कोई आज आने वाला है। उसके लिए खीर बनेगी। अब मैं बच्चे को कहाँ से दूध पिलाऊँ।

वह दुःखी होकर के घर आ गया। घर आ गया, तो देखा वहाँ दावत हो रही थी। झबेर के पिता ने कहा—बेटे! आओ, दावत का समय हो गया। सब बैठने लगे हैं, तुम भी आओ और बैठो, भोजन करो। वह बच्चा बैठ गया। कौन? सरदार बल्लभ भाई के पिता—झबेर। जब वह बैठ गया, तो पिता ने कहा—बेटे खा। झबेर ने कहा—पिताजी यह खाई नहीं जा रही है। क्यों, अच्छी नहीं लगती? अच्छी तो लगती है, पर न जाने क्यों मेरे मुँह में चल नहीं रही है; क्योंकि जब दो साल के, एक साल के बच्चे दूध के लिए रो रहे हैं और हम खीर खा लें, यह कैसे हो सकता है पिता जी। यह खीर मुझसे नहीं खाई जाएगी और बच्चा वहाँ से उठकर चल दिया।

बेटे! हमने अपना जीवन ऐसा बनाया है और उसी मितव्ययिता से उसी के अनुसार चलने का हमने व्रत लिया है। यहाँ तक कि कभी भी कोई समय ऐसा आया होगा जब अस्वस्थता हुई होगी, आखिर शरीर तो शरीर ही है। प्रकृति तो प्रकृति ही है। प्रकृति के नियम हैं। तो हमने चाहे उसमें थोड़ा-बहुत यह भी कर लिया होगा कि इनके लिए हमको कुछ करना चाहिए। एक बार मौसम्मी मँगाई थीं। हमने सोचा कि इनका शरीर दुर्बल हो गया है, अस्वस्थ है, तो लाइए आचार्य जी को थोड़ा-सा मौसम्मी का रस दे देना चाहिए। भूल से चला गया, चला तो गया पेट में, परंतु जब मालूम हुआ कि मौसम्मी है, तो उन्होंने लेना बंद कर दिया।

उन्होंने कहा कि जब हम अपने बच्चों को यह नहीं खिला सकते, अपने परिजनों को नहीं खिला सकते, तो हमको अधिकार नहीं है कि हमको यह खाना चाहिए। मौसम्मी से हमारा शरीर नहीं बनेगा, दूध से हमारा शरीर नहीं बनेगा। हमारी आत्मशक्ति से बनेगा, आत्मबल से बनेगा। खाने से अगर बना होता, तो जितने ये करोड़पति हैं, लखपति और धनपति हैं, फोर्ड थे या कौन थे जिनके कि एक मिनट में कितनी ही कारें बनती थीं, लेकिन जब वे खाना खाने बैठते थे तो मजदूरों को देखकर उनके पेट में ऐंठन और तड़पन जैसी होती थी।

एक बार मनु नाव में वेद रखकर जा रहे थे कि समुद्र में तूफान आ गया। बड़ी देर बाद तूफान शांत हुआ तो उन्होंने देखा कि एक बड़ी मछली उनकी नाव को सहारा दिए खड़ी थी। मनु ने विनीत भाव से पूछा—"भगवन्! आपने ही मेरी रक्षा की है। आप कौन हैं? कृपया अपने दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करें।" मत्स्य भगवान दिव्य रूप में प्रकट होकर बोले—"वत्स! तुमने ज्ञान की रक्षा का व्रत लिया, इसलिए तुम्हारी सहायता के लिए मुझे आना पड़ा।" ब्राह्मण संस्कृति का रक्षक होता है, जिस पर कृपा बरसाने हेतु परमसत्ता सदैव उद्यत रहती है।

उन्हें देखकर ईर्ष्या जैसी होती थी कि हे भगवान! तुमने मुझे मजदूर क्यों नहीं बनाया? जो ये सूखी रोटी खा करके भी हट्टे-कट्टे इतने मजबूत हैं और मैं करोड़पति, अरबपति होते हुए भी अन्न को हजम नहीं कर सकता। यदि बनते होते तो संपत्ति से उनके शरीर बने होते; लेकिन यह रूहानियत से बनते हैं। आत्मबल से बनते हैं। इससे नहीं बनते कि हमने यह नहीं खाया, वह नहीं खाया। इससे कमजोरी आ गई। ऐसा उसमें नहीं होता।

कर्त्तव्य का बोध

बेटे! गुरुजी को मोह कभी नहीं रहा। न घर का मोह, न बच्चों का मोह, न पत्नी का मोह रहा। कर्त्तव्य का बोध जरूर रहा। वे कर्त्तव्य से कभी नहीं हटे। सेवा से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा। किसी को पीठ नहीं दिखाई। हाथ-पाँव से सेवा करने की कोशिश उन्होंने जरूर की। सेवा के लिए वे हमेशा तत्पर रहते हैं। पत्नी के साथ उनका व्यवहार? बेटे! हमारे साथ में उनका व्यवहार कभी पत्नी जैसा रहा ही नहीं। उन्होंने सब बच्चों के सामने भी माताजी कहा होगा और पीछे भी माताजी कहा होगा। इसका क्या मतलब है? उन्होंने हमेशा मुझे इसी दृष्टि से देखा। उन्होंने कहा कि माँ कभी धोखा नहीं देती। पत्नी तो दे भी जाती है, लेकिन माँ नहीं देती। उनके वे शब्द मेरे अंदर इतनी गहराई में चले गए हैं कि मैं कह नहीं सकती। मेरी भावनाएँ हर क्षण यही होती हैं कि इनके लिए मैं क्या करूँ। इस मिशन के लिए, इनके लिए मेरा समर्पण है ही। इस मिशन के लिए जी-जान से मैं समर्पित हूँ।

बेटे! उन परिस्थितियों के बारे में परिजनों को मालूम है, उनसे छिपी नहीं हैं। कई परिस्थितियाँ ऐसी सामने आईं, जिनमें कोई भी महिला डगमगा सकती है, डावाँडोल हो सकती है, विचलित हो सकती है और वह अस्त-व्यस्त भी हो सकती है। दिमाग की दृष्टि से अस्थिर हो सकती है। कोई और चाहे हो या न हो, पर मेरी जैसी महिला तो कम-से-कम हो ही सकती है, जो अपने गृहस्थ जीवन में इस तरीके से रही हो। दांपत्य जीवन में इस तरीके से रही हो कि उसमें एकदूसरे के लिए कितना सम्मान, कितनी उदारता, कितनी सहृदयता हो, तो उन परिस्थितियों में क्या हुआ होता; लेकिन नहीं, उन परिस्थितियों को हमने हँसते-हँसते झेला और इस मिशन के लिए ही नहीं; वरन उनके इच्छानुकूल उनके उद्देश्यों के लिए उनके पदचिह्नों पर चलना, हमेशा यही विचार करती रही।

जब सन् 1960 में वे अज्ञातवास के लिए गए, तो मैंने कहा कि मैं भी चलूँगी। सन् 1972 में गए, तो यही हुआ था। उससे पहले उन्होंने कहा कि नहीं तुम मेरे साथ मत चलो। मेरे साथ जाने से यह मिशन डगमगा जाएगा। जिसको हमने खून-पसीने से सींचा है, तुम्हारा कर्त्तव्य होता है कि इस मिशन की देख-भाल करो। तुमको इसे सँभालना है। तुम लाखों बच्चों की माँ हो। माँ को अपने बच्चों को सँभालना है, जिस तरह से मुरगी अपने अंडों को सँभालती है, सहेजती है कि कोई अंडा फूट न जाए। अंडे को कोई उठा न ले जाए, कोई खा न जाए। तो तुम इन अंडों को सँभालना, जो मैं तुम्हारे हवाले किए जा रहा हूँ।

बेटे! सन् 1960 में मैंने वहाँ रह करके सब सँभाला। गायत्री तपोभूमि को सँभाला। पत्रिका को सँभाला। पत्र व्यवहार को सँभाला। परिजनों को सँभाला। बच्चों को सँभाला। सबको सँभाला। मैंने कहा कि इधर तो भावनाएँ कहती हैं कि चलो सीताजी के तरीके से अपने राम के साथ, परंतु फर्ज और कर्त्तव्य ने कहा कि नहीं उर्मिला के तरीके से घर में रहो और लक्ष्मण को जाने दो। कर्त्तव्य ने कहा जाना नहीं चाहिए और भावना ने कहा कि नहीं साथ चलिए। दोनों की जद्दोजहद में किसको सफलता मिली? मिली फर्ज और कर्त्तव्य को। आजीवन हमने यही निभाया है।

आचार्य जी की माताजी थीं, जिनको हम ताईजी कहते हैं; लेकिन मोह उनका भी न था। आचार्य जी का मोह उनके प्रति या किसी के प्रति था ही नहीं। तो माँ के प्रति भी नहीं था? क्यों? क्योंकि कर्त्तव्य सबसे बड़ा होता है। समाज, राष्ट्र सबसे ज्यादा कर्त्तव्य था उनके लिए। इनकी माँ कहती थीं—"अरे! मेरा अकेला बेटा है। क्या कभी मुझे उससे लकड़ी नहीं लेनी होगी?" हुआ भी यही। वे बाहर थे और उनकी माँ का देहावसान सन् 1971 में हो गया। मैंने कहा—"अरे मैं हूँ, उनकी जगह पर मैं चलती हूँ और सारे का सारा कार्य मैंने अपने इन हाथों से ही संपन्न किया।"

बेटे! मनुष्य को कौन-कौन विचलित करता है? मोह और लोभ करता है। लोभ से वे हजारों-लाखों कोस, करोड़ों कोस दूर हैं। उनमें कोई भी किसी भी अक्स में लोभ नाम की कोई चीज नहीं है। गायत्री तपोभूमि को छोड़कर चले आए, तो चले आए और शांतिकुंज आ गए। यहाँ से भी

कहीं जाना पड़े, हिमालय जाना पड़े, तो बिलकुल ऐसे छोड़कर चले जाएँगे, जैसे शांतिकुंज नाम की कोई चीज थी भी या नहीं थी। लोभ, मोह की जंजीरों ने उनको कभी नहीं बाँधा और हमने भी वही रास्ता अपनाया। हमें भी कोई नहीं बाँध सका।

हम मथुरा को, अपने हरे-भरे परिवार को छोड़ करके, बच्चों को छोड़ करके खुशी-खुशी उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए शांतिकुंज आ गए। आगे भगवान ले जाएगा, तो हम आगे भी जाएँगे, जरूर जाएँगे। लेकिन हमें मालूम नहीं उस मार्गदर्शक का कि आगे चलने की हमें वह आज्ञा देगा भी कि नहीं देगा। हमारे ऊपर जो उत्तरदायित्व लादे गए, हमने हमेशा उनको सहर्ष स्वीकार किया है और यही प्रार्थना की है कि इतनी शक्ति और इतनी सामर्थ्य और देना कि हमारे कंधे और हमारी भुजाएँ इतनी बलवान हों कि हम उस बोझ को उठाने में समर्थ हों।

यह परिवार आचार्य जी ने बनाया है। यह गायत्री परिवार, युग निर्माण परिवार और अखण्ड ज्योति परिवार, यह कुटुंब हमने बनाया है। लाखों-करोड़ों परिजनों का एक परिवार बसाया है। उसकी सेवा, सहायता करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। यह हमारा कुटुंब है। इसके लिए हमेशा जो वायदा किया है, वो निभाया है और सेवा की है। प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, परोक्ष दिखाई नहीं पड़ता। प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है और जिनको परोक्ष से जो मदद मिलती है, वह दिखाई नहीं पड़ती है।

इस तरीके से जो वायदा किया है, निभाया है और आगे भी निभाते रहेंगे। लेकिन आपका कर्त्तव्य है कि आपको भी कुछ सोचना चाहिए, कुछ समझना चाहिए कि जब आपके मार्गदर्शक ने आपके लिए इतना लगाया है, तो क्या उसके मिशन के लिए आप नहीं लगाएँगे। आपको आगे आना चाहिए। यह एक पिता की पुकार है। यह एक माँ की पुकार है। हम भी आशा रखते हैं कि आप मिशन के लिए उसी तरीके से समर्पित होंगे, जिस तरीके से हम हुए हैं। उसी तरीके से आपको भी समर्पित होना चाहिए। आशा है कि हमारे परिजन इस पर ध्यान देंगे, समझेंगे और जो हम चाहते हैं, वह करेंगे। आज की बात समाप्त।

॥ ॐ शान्तिः ॥

एक बार अकबर बादशाह ने बीरबल से कहा—"बीरबल तुम्हें काला कोयला सफेद करके दिखाना है।" बीरबल सकते में आ गए, लेकिन बादशाह का आदेश था, इसलिए युक्ति सोचने लगे। उन्होंने बादशाह से कहा—"हुजूर! कुछ समय दिया जाए, फिर कोयला सफेद करके दिखाऊँगा।"

कुछ दिनों बाद बीरबल दरबार में पहँचे। बीरबल की चतुराई देखने लोगों का जमघट लग गया। बीरबल ने काले कोयले को सबके सामने रखा और उसमें आग लगा दी। कोयला धूँ-धूँ करके जलने लगा। जलकर कोयला अंगार बना और अंगार जब बुझा, तो सिर्फ सफेदी के अलावा कुछ भी नहीं था।

सभी समझ गए कि कोयले को सफेद करने का उपाय संसार में सिवाय अग्नि संस्कार के कोई दूसरा नहीं है। कुसंस्काररूपी कालिख को यदि शुद्ध बनाना है तो ऐसा तपस्या की अग्नि से ही संभव है।

विश्वविद्यालय परिसर से—198

श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्तित्व का मनोआध्यात्मिक स्वरूप

विश्वविद्यालय परिसर में शारदीय नवरात्र के अवसर पर इस बार कुलाधिपति डॉ० प्रणव पण्ड्या द्वारा नवरात्र की संध्याकालीन कक्षाएँ ली गईं। नवरात्र में प्रतिदिन ली जाने वाली इन कक्षाओं का विषय था— '**श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्तित्व का मनोआध्यात्मिक स्वरूप एवं प्रकार (श्रद्धा, पूजन, यज्ञ, तप, दान व आहार के विशेष संदर्भ में)**'। श्रीमद्भगवद्गीता में त्रिगुण व्यक्तित्व संबंधी यह प्रकरण सत्रहवें अध्याय के दूसरे श्लोक से आरंभ होकर 10वें श्लोक तक है।

(1) प्रथम दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के 17वें अध्याय के दूसरे श्लोक की व्याख्या की गई।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

(गीता 17/2)

अर्थात श्रीभगवान बोले—मनुष्यों की वह शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकार की ही होती है, उसको तू मुझसे सुन।

अर्जुन ने 17वें अध्याय के पहले श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया था कि शास्त्र विधि को न जानते हुए निष्ठापूर्वक जो लोग शुभ कर्म करते हैं, उनकी निष्ठा किस प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी या तामसी।

यहाँ पर निष्ठा के प्रकार को लेकर प्रश्न किया गया था, लेकिन श्रीभगवान इसका उत्तर श्रद्धा को लेकर देते हैं; क्योंकि व्यक्ति की श्रद्धा के अनुसार ही निष्ठा होती है। श्रद्धा एक तरह से हमारे व्यक्तित्व का आधार है और यह हमारी भावनाओं का केंद्र भी है; क्योंकि इसी के इर्द-गिर्द हमारा जीवन संचालित होता है, हम अपनी श्रद्धा के अनुरूप ही किसी भी चीज के प्रति अपनी रुचि दरसाते हैं और उसके प्रति अपना झुकाव प्रदर्शित करते हैं। अत: श्रद्धा यानी हमारी भावनाओं का केंद्र, जिसके आधार पर हम टिके हुए हैं। हर व्यक्ति में यह श्रद्धा बड़े धीरे-धीरे विकसित होती है, लेकिन जब यह विकसित हो जाती है, तो व्यक्ति फिर उस श्रद्धा के अनुरूप गढ़ जाता है।

तामसी व्यक्ति की श्रद्धा आलस्य पर टिकी होती है, अत: वो सभी कार्य जिनको करने के बाद व्यक्ति कुछ करने की स्थिति में नहीं रहता। ऐसे कार्य तामसी व्यक्ति को प्रिय होते हैं। राजसी व्यक्ति की श्रद्धा रजस् पर यानी सक्रियता पर केंद्रित होती है, अत: वो सभी कार्य जिनके करने से व्यक्ति को शांति व चैन नहीं मिलता, ऐसे कार्य राजसी व्यक्ति को प्रिय होते हैं। जबकि सात्त्विक व्यक्ति की श्रद्धा उन कार्यों पर टिकी होगी, जिन्हें करने से मन को शांति मिलती है, संतोष मिलता है। वह कोई कार्य इसलिए करता है; क्योंकि उसकी जरूरत होती है। अगर जरूरत नहीं होती, तो वह शांत बैठता है और अपनी शांति को वह कभी नहीं खोता, न तो कार्य के दौरान और न ही विश्रांति के दौरान।

(2) द्वितीय दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक की व्याख्या की गई।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता 17/3)

अर्थात—सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अत:करण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है।

अत: यह जानना जरूरी है कि व्यक्ति का अंत:करण कैसी अवस्था में है? क्योंकि जैसा अंत:करण होगा, वैसी ही उसकी श्रद्धा होगी और उसी के अनुरूप उसका स्वभाव होगा और वह वैसी ही प्रकृति वाला मनुष्य होगा। त्रिगुण श्रद्धा की तरह अंत:करण भी तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक अंत:करण, राजसिक अंत:करण व तामसिक अंत:करण। सात्त्विक अंत:करण वाले व्यक्ति की श्रद्धा

सात्त्विक होती है, राजसिक अंत:करण वाले व्यक्ति की श्रद्धा राजसिक होती है और तामसिक अंत:करण वाले व्यक्ति की श्रद्धा तामसिक होती है।

जब यह कहा जाता है कि व्यक्ति सात्त्विक है, तामसिक है या राजसिक है तो इसका मतलब यह नहीं होता कि उसमें केवल सात्त्विक गुण हैं या तामसिक गुण हैं या राजसिक गुण हैं। इसका मतलब तो यह है कि वह या तो सत्त्वगुण प्रधान है या रजोगुण प्रधान है या तमोगुण प्रधान है, और बाकी अन्य दो गुण गौण अवस्था में हैं।

असल में मनुष्य की श्रद्धा ही उसकी असली पहचान है, उसके व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण आधार है, जिस पर उसके जीवन का ताना-बाना बुना हुआ है। अगर मनुष्य की श्रद्धा आलस्य में है, तब उस व्यक्ति की जीवन कथा में उसके आलसीपन की कथा होगी। अगर श्रद्धा रजस् की है, महत्त्वाकांक्षा व दौड़ की है, तब उसका जीवन अपने दौड़-भाग की कहानी कहेगा और अगर मनुष्य की श्रद्धा सत्त्व की है, तो उसके जीवन में एक सुगंध होगी, शांति व प्रसन्नता की। इस तरह मनुष्य की जैसी श्रद्धा होगी, उसका जीवन भी उसी की प्रकृति के अनुसार होगा।

श्रद्धा यानी हमारी वो आदतें—जो गहराई से हमसे जुड़ी हुई हैं, जो हमारे स्वभाव में हैं और जिन्हें हम इस जन्म में ही नहीं, बल्कि पिछले जन्मों से भी दोहराते आ रहे हैं, और अगर हम इन्हें सुधारेंगे नहीं, बदलेंगे नहीं, तो हर जन्म में उन्हें ही दोहराते रहेंगे और एक ही गलती को बार-बार करते रहेंगे।

(3) तृतीय दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के 17वें अध्याय के चौथे श्लोक की व्याख्या की गई।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

(गीता 17/4)

अर्थात—सात्त्विक मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों तथा राक्षसों का और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूत गणों का पूजन करते हैं।

जो सात्त्विक हैं, वे देवों को पूजते हैं, यानी दिव्यता को पूजते हैं। दिव्यता का अर्थ है—जिनके जीवन में तीनों गुण-धर्मों की एकता का संगीत बजने लगा, जिनके जीवन में संतुलन है, लेकिन अभी वे उस परम तत्त्व को उपलब्ध नहीं हुए हैं, अभी उनकी परम तत्त्व को उपलब्ध होने की यात्रा बाकी है, लेकिन जो राजसिक मनुष्य हैं, वे यक्ष व राक्षसों को पूजते हैं। यह भी एक प्रतीक है, जिसका तात्पर्य समझना जरूरी है। राक्षस का अर्थ है—जिसके जीवन में रजस् प्रगाढ़ हो। रजस् यानी जिसमें महत्त्वाकांक्षाओं की बाढ़ हो, जो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिए कुछ भी करने को तत्पर हो, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जो उचित व अनुचित का ध्यान न रखता हो, बल्कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करना ही जिसका ध्येय हो। वह राक्षस प्रकृति है।

राजसिक पुरुष यक्ष व राक्षसों को पूजते हैं, तो राक्षस यानी कोई मनुष्यों की जाति नहीं, बल्कि राक्षस एक गुण है, जो पद-प्रतिष्ठा को ही अपना सर्वस्व मानता है और इसे पाने के लिए कुछ भी उचित व अनुचित करने के लिए प्रयासरत रहता है और यक्ष वे हैं, जिनके पास धन है, जैसे—कुबेर यक्ष हैं। कुबेर यानी जिसके पास संसार का धन का सबसे बड़ा खजाना है, जो खजांची है स्वर्ग के देवताओं का।

राजसिक पुरुषों द्वारा यक्ष व राक्षसों को पूजने का अर्थ है कि वे उनको पूजते हैं, उनके प्रति श्रद्धा व रुचि रखते हैं, जिनके पास या तो धन है, या जिनके पास कोई पद व शक्ति है। अत: या तो धन की पूजा या पद की पूजा और इन दोनों ही तरह की पूजा के पीछे शक्ति की पूजा है। अत: राजसिक व्यक्ति धनशक्ति व पदशक्ति की आराधना करते हैं, ऐसे लोग शक्ति की माँग करते हैं और इन शक्तियों को हासिल करने के लिए वे कुछ भी करने को तत्पर रहते हैं, तैयार रहते हैं।

जो तामसिक पुरुष हैं, वे भूत-प्रेतों को पूजते हैं। यह भी एक प्रतीक है, जिसे समझना जरूरी है। हमारे समाज में एक तीसरा वर्ग भी है, जो तमस् से भरे हुए लोगों का है। उनकी आकांक्षा इतनी ही है कि उनका आलस्य अखंडित रहे, उन्हें कोई जगाए नहीं, बल्कि उनकी आकांक्षाएँ कोई और पूरी कर दे और वे पड़े रहें, कुछ न करें। वे अपनी ही मूर्च्छा में, उसी बेहोशी में, सोए रहें, वे नींद में डूबे रहें, प्रमाद में रहें और उनकी जरूरतों को कोई और पूरा कर दे और ऐसा काम करता कौन है ? तो भूत-प्रेत।

भूत-प्रेत से तात्पर्य है—ऐसे लोग जो खुद भी तमस् प्रधान हैं; ऐसी आत्माएँ जो खुद भी तमस् प्रधान

हैं, वे इनकी इच्छापूर्ति करती रहती हैं। दुनिया में ऐसे लोग होते हैं, जो दूसरों को जुआ खेलने के लिए प्रेरित करते हैं; ऐसे लोग, जो दूसरों को लाटरी में अपना दाँव लगाने के लिए उत्सुकता पैदा करते हैं; ऐसे लोग होते हैं, जो दूसरों को वेश्यागृहों में ले जाते हैं; ऐसे लोग होते हैं, जो दूसरों को नशा करने के लिए प्रेरित करते हैं, उन्हें शराब पिलाते हैं, ड्रग्स दिलाते हैं; ऐसे लोग दूसरों को तमस् की ओर ले जाते हैं, वे भूत-प्रेतों से प्रेरित लोगों की श्रेणी में आते हैं।

लोगों की ऐसी आकांक्षाएँ भी होती हैं कि उन्हें कोई ताबीज दे दे, जिससे उनकी बीमारी ठीक हो जाए, कोई उन्हें ऐसी भभूत दे दे, जिससे उन्हें विशेष लाभ हो जाए, किसी तरह उन्हें कोई खजाना मिल जाए, यानी उन्हें कुछ करना न पड़े और सब कुछ उन्हें मिल जाए। ऐसे लोगों को ही प्रेत लोग ऐसा कार्य करने को प्रेरित करते हैं, ताकि उनका तमस् बरकरार रहे और बढ़ता रहे।

सात्त्विक व्यक्ति जो देवताओं का पूजन करते हैं, वे उनसे कुछ माँगते नहीं, बल्कि उनके पास जो है, वे उसके लिए देवताओं से, भगवान से अपना धन्यवाद प्रकट करते हैं, अपना संतोष भाव व्यक्त करते हैं; जबकि राजसिक व्यक्ति देवताओं का भी यदि पूजन करते हैं, तो इसके पीछे उनकी कोई-न-कोई कामना होती है और अपनी कामना की पूर्ति के लिए वे यक्ष व राक्षसों का भी पूजन करते हैं; क्योंकि उनके अंदर असंतोष का भाव होता है।

चाहे उन्हें कितना भी कुछ मिल जाए, वे असंतुष्ट ही रहते हैं और सदैव कुछ-न-कुछ माँगते रहते हैं और अपनी माँग की पूर्ति के लिए वे बहुत दौड़-भाग करते हैं। तामसिक व्यक्ति तो भूत-प्रेतों को ही अपनी कामना पूर्ति के लिए मनाते हैं, उनको पूजते हैं। वे कामना तो करते हैं, माँग तो करते हैं, लेकिन उस कामना की पूर्ति के लिए दौड़-भाग नहीं करना चाहते।

सात्त्विक पुरुष निष्काम भाव से पूजन करते हैं, राजसिक पुरुष सांसारिक कामना की पूर्ति हेतु पूजन करते हैं और तामसिक पुरुष स्वार्थ सिद्धि हेतु, अपनी सुरक्षा हेतु पूजन करते हैं।

(4) चतुर्थ दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के 5वें व 6वें श्लोक की व्याख्या की गई।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
(गीता 17/5)

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥
(गीता 17/6)

अर्थात—जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित केवल मन:कल्पित घोर तप को तपते हैं तथा दंभ और अहंकार से युक्त एवं कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से युक्त हैं। जो शरीर रूप से स्थित भूत समुदाय को और अंत:करण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर स्वभाव वाले जान।

शास्त्रविधि से रहित घोर तप करने वाले मनुष्यों में श्रद्धा (पवित्र व ईश्वरोन्मुख सरल भावना) नहीं होती, अत: लोगों को ठगने के लिए, उन पर रोब जमाने के लिए वे पाखंड रचते हैं और सदा अहंकार से भरे रहते हैं। इसीलिए यहाँ पर उन्हें दंभ व अहंकार से युक्त कहा गया है।

शास्त्रविधि से रहित घोर तप करने वाले लोग तमोगुण प्रधान होते हैं। ऐसे लोगों में भोगों के प्रति अत्यंत आसक्ति होती है, उनके चित्त में निरंतर भोगों की कामना बढ़ती रहती है। अत: ये लोग ऐसा समझते हैं कि हम जो कुछ भी चाहेंगे, वह प्राप्त कर लेंगे, हमारे अंदर अपार बल है, हमारे बल के सामने किसकी शक्ति है, जो हमारे कार्य में बाधा दे सके। इसी अभिप्राय से उन्हें कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से युक्त कहा गया है।

शास्त्रविधि से रहित घोर तप करने वाले लोग शरीर में स्थित पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) को कृश करते हैं, शरीर को क्षीण व दुर्बल करते हैं, शरीर को सुखाते हैं और इसी को वे तप समझते हैं। शरीर को कष्ट दिए बिना तप नहीं होता—ऐसी उनकी स्वाभाविक धारणा होती है।

शास्त्रविरुद्ध घोर तप करने वाले लोग अंत:करण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करते हैं, यानी दु:ख देते हैं। वास्तव में सबके हृदय में आत्मरूप से परमात्मा स्थित है। अत: अपनी आत्मा को या अन्य किसी की भी आत्मा को दु:ख पहुँचाना परमात्मा को ही दु:ख पहुँचाना है, इसलिए ऐसे लोगों को भूत समुदाय और परमात्मा को क्लेश पहुँचाने वाला कहा गया है।

ऐसे लोगों को आसुर स्वभाव वाला ही समझो—**'तान्विद्धि आसुरनिश्चयान्'**। आसुरी स्वभाव के बारे में भगवान श्रीकृष्ण गीता के 16वें अध्याय के चौथे श्लोक में कहते हैं कि दंभ, घमंड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब आसुरी संपदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं और आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों के विषय में भगवान श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि आसुरस्वभाव वाले मनुष्यों में न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है। ये आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य अक्सर यह कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वर के अपने आप ही केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है, इसके सिवा यहाँ और क्या है?

आसुर स्वभाव वाले दंभ, मान और मद से युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर, अज्ञान से मिथ्या सिद्धांतों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों को धारण करके संसार में विचरते हैं। और वे मृत्युपर्यंत रहने वाली असंख्य चिंताओं का आश्रय लेने वाले, विषय-भोगों को भोगने में तत्पर रहने वाले और इतना ही सुख है—इस प्रकार मानने वाले होते हैं। ये लोग काम-क्रोध के परायण होकर विषय-भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।

(5) पंचम दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के 7वें श्लोक की प्रथम पंक्ति की व्याख्या की गई।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।

(गीता 17/7)

अर्थात—भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है। भोजन तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक भोजन, राजसिक भोजन व तामसिक भोजन। सात्त्विक प्रकृति के लोगों को सात्त्विक भोजन प्रिय होता है, राजसिक प्रकृति के लोगों को राजसिक भोजन प्रिय होता है और तामसिक प्रकृति के लोगों को तामसिक भोजन प्रिय होता है।

तामसी व्यक्ति प्रायः अतिशय भोजन करता है। अतिशय भोजन करने का अर्थ है कि वह अपने पेट को इतना भर लेगा कि उसके मस्तिष्क को विचार करने तक के लिए ऊर्जा नहीं मिलती, वह कुछ न तो ठीक तरह से सोच पाता और न ही समझ पाता, ध्यान करना तो उसके लिए बहुत दूर की बात होती है। मस्तिष्क का उपयोग न हो पाने के कारण धीरे-धीरे उसका मस्तिष्क छोटा होता जाता है, सिकुड़ जाता है।

राजसी प्रवृत्ति का व्यक्ति भिन्न-भिन्न तरह के भोजन में रस लेता है। ऐसा भोजन, जिससे उसे ऊर्जा मिले, गति मिले, त्वरा मिले, वह भोजन राजसिक व्यक्ति को प्रिय होता है। क्योंकि राजसिक व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होता है, वह दुनिया की भाँति-भाँति की दौड़ में शामिल होता है, दुनिया की भाँति-भाँति की प्रतियोगिताएँ उसके जीवन का अभिन्न हिस्सा होती हैं।

तामसी व्यक्ति जहाँ ठीक से सोच-विचार भी नहीं कर पाता, वहीं राजसिक व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इतना ज्यादा सोचता-विचारता है कि उसके कारण उसे पल भर का चैन नहीं मिलता। दुनिया के सारे राजसी व्यक्तियों को यदि देखा जाए, तो वे अल्पभोजी होंगे, ऐसा भोजन ग्रहण करेंगे, जिससे उन्हें भरपूर ऊर्जा मिले और वे सजग भी रह सकें।

इस तरह सात्त्विक व्यक्ति का भोजन अत्यल्प होगा, शुद्धतम होगा, सुपाच्य, सुस्वादु, हलका व शाकाहारी होगा। कभी उसके शरीर पर भोजन के कारण इतना भारीपन व बोझ नहीं होगा, जिसके कारण उसका मस्तिष्क असक्रिय बना रहे। सात्त्विक व्यक्ति बार-बार भोजन करने का अभ्यस्त नहीं होगा, बल्कि वह अपने निर्धारित समय पर ही भोजन करेगा।

ऐसा व्यक्ति सम्यक भोजन करेगा, संतुलित भोजन करेगा और अपना खान-पान व आहार-विहार शुद्ध व सात्त्विक रखेगा। शुद्ध व संतुलित भोजन करने से इसकी बुद्धि भी श्रेष्ठ होगी, इसमें सोचने-विचारने की भली प्रकार क्षमता होगी।

तामसी व्यक्ति अति भोजन करेगा, उसका आहार अशुद्ध, अपवित्र, बासी व जूठा होगा। क्षत्रिय व राजसी व्यक्ति जरूरत से कम भोजन करेगा, उसका आहार मिर्च-मसालों से भरपूर व अतिस्वादिष्ट होगा। और सात्त्विक व्यक्ति सम्यक भोजन करेगा। न तो तामसी व्यक्तियों की भाँति ज्यादा और न ही राजसी व्यक्तियों की भाँति कम। उसका भोजन शुद्ध, सात्त्विक, ताजा व संतुलित होगा, साम्य होगा; वह उतना ही भोजन करेगा, जितना उसे

जरूरी होगा, जितना आवश्यक होगा। उससे न रत्ती भर ज्यादा, न रत्ती भर कम।

(6) षष्ठ दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के 7 वें श्लोक की दूसरी पंक्ति की व्याख्या की गई।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥

(गीता 17/7)

अर्थात—भोजन के समान यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक-पृथक भेद को तू मुझसे सुन।

जो यज्ञ शास्त्रोक्त विधि से दान व श्रद्धासहित निष्काम भाव से किया जाता है, वह सात्त्विक यज्ञ है, जो यज्ञ दंभाचरण के लिए और फल को उद्देश्य में सामने रखकर अधूरी श्रद्धा के साथ सकाम भाव से किया जाता है, वह राजस यज्ञ है और जो यज्ञ शास्त्रविधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मंत्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के अश्रद्धा यानी अरुचि के साथ सकाम भाव से किया जाता है, वह तामस यज्ञ है।

श्रद्धा व निष्काम भाव से जो तप किया जाए, वह सात्त्विक तप है। इसलिए सात्त्विक तपस्वी परमात्मा से कुछ माँगता नहीं। वह तो इसी बात से अति प्रसन्न रहता है कि परमात्मा ने उसे बहुत कुछ दिया है और वह उसमें परम संतुष्ट है, लेकिन ऐसा तप, जो अपने सत्कार के लिए, मान-सम्मान व अपनी पूजा करवाने के लिए किया जाता है, वह राजस तप है और जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन-वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है—वह तप तामस कहा गया है।

जब उपयुक्त योग्य पात्र को खोजकर निष्काम भाव से दान दिया जाता है, तो वह सात्त्विक दान है और उस दान का विशेष लाभ होता है; जबकि राजसिक दान तो लाभ पाने के उद्देश्य से ही यानी सकाम भाव से किसी को भी दिया जाता है और तामसिक दान तो सिर्फ अहंकार की तुष्टि के लिए और दूसरों का अपमान करने के लिए कुपात्र को दिया जाता है।

निष्काम भाव से पूर्ण श्रद्धा के साथ (उत्साह के साथ पूरे मन से) किया जाने वाला यज्ञ, तप व दान सात्त्विक होता है। सकाम भाव से आधी-अधूरी श्रद्धा के साथ (आधे-अधूरे मन से) किया जाने वाला यज्ञ, तप व दान राजस होता है और सकाम भाव से अश्रद्धा के साथ अरुचि से, बिना मन से किया जाने वाला यज्ञ, तप व दान तामस होता है।

(7) सप्तम दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के 8 वें श्लोक की व्याख्या की गई।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

(गीता 17/8)

अर्थात—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय—ऐसे आहार अर्थात भोजन करने के पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

जो व्यक्ति सत्त्व से भरा होता है, वह संतुलित व सम्यक मात्रा में सात्त्विक भोजन करता है। सात्त्विक भोजन यानी वह भोजन; जो शुद्ध, शाकाहारी, ताजा बना हुआ, ईमानदारी व मेहनत की कमाई से उपार्जित धन द्वारा लाया गया होता है।

हमारी आंतरिक अभिलाषा एक ही है कि जो हमें अपना समझते हैं, जिन्हें हम अपना समझते हैं, वे युग नेतृत्व करें। अपने आप को आदर्शों के राजमार्ग पर चलाएँ और नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक क्षेत्र में प्रगतिशीलता की क्रिया-प्रक्रिया अपनाएँ। समर्थ नाविक की तरह अपनी मजबूत पतवार वाली नाव पर बिठाकर स्वयं पार हों, अन्यान्य असंख्यों को पार लगाएँ, ऊँचा उठाएँ और ऐसा वातावरण बनाएँ, जिससे सर्वत्र वसंत सुषमा बिखरी दृष्टिगोचर हो। *—परमपूज्य गुरुदेव*

सात्त्विक भोजन का ताप न तो बहुत अधिक और न ही बहुत कम होता है, उसका ताप शरीर के ताप के अनुसार ही होता है, इसलिए वह आसानी से पचता है और शरीर के स्वास्थ्य के लिए भी वह लाभकारी होता है, शरीर को पुष्ट करने, उसका संरक्षण करने, उसकी रोगप्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में भी यह भोजन सहकारी व सहयोगी होता है।

(8) अष्टम दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के 9 वें श्लोक की व्याख्या की गई।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

(गीता 17/9)

अर्थात—कड़ुए, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिंता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार अर्थात भोजन करने के पदार्थ राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

रजस् गुण-धर्म वाला व्यक्ति यानी राजसिक व्यक्ति जो होगा, वह ऐसा भोजन पसंद करेगा, जिससे उसके जीवन में त्वरा पैदा हो, दौड़ पैदा हो, जिससे उसे धक्का लगे। इसलिए उसका भोजन उत्तेजक आहार होगा।

राजसी व्यक्ति का भोजन कड़ुआ, खट्टा, नमकयुक्त, अतिगरम, तीखा, रूखा व दाहकारक होगा, चूँकि राजसी व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होते हैं, अतः उनका भोजन इसी तरह का होगा; क्योंकि उनको दौड़ना है, उन्हें सोना नहीं है, उन्हें नींद नहीं चाहिए, बल्कि उन्हें तो अतिसक्रियता चाहिए, ताकि उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी हो सकें। जिसको नींद चाहिए, वह ठंढा व बासी भोजन करता है, लेकिन जिसको दौड़ना है, वह अति गरम भोजन करता है।

राजसिक आहार स्वादिष्ट, मसालेदार, अधिक तेल वाला भोजन होता है, जो कि आसानी से पचता नहीं है, आसानी से न पचने के कारण यानी पेट खराब हो जाने के कारण व्यक्ति को धीरे-धीरे रोग घेरने लगते हैं। इसलिए राजसिक आहार को रोगकारक आहार भी कहा गया है।

वर्तमान में बढ़ते हुए रोगों का कारण राजसिक आहार के प्रति लोगों का रुझान है, जिसके स्वाद के लिए लोग बहुत पैसे खरच करते हैं और रोगों को भी अपने जीवन में निमंत्रण देते हैं। गैस, एसिडिटी, अपच आदि का कारण तेल, मिर्च-मसालों वाला राजसिक आहार व तामसिक आहार (बासी भोजन, मांस-मदिरा आदि का सेवन) ही है।

(9) नवम दिवस—इस दिन श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के 10 वें श्लोक की व्याख्या की गई।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

(गीता 17/10)

अर्थात—जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गंधयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है। तामसी व्यक्ति जो है, वह ऐसा आहार करना पसंद करता है, जिससे उसे नींद आए, और उसे भोजन से उत्तेजना पैदा न हो, जैसे—बासी, उच्छिष्ट, ठंढा आहार; जिससे कोई उत्तेजना पैदा नहीं होती, बल्कि सिर्फ भारीपन व बोझ पैदा होता है और वह सो जाता है।

चूँकि तामसी व्यक्ति भोजन के लिए अधिक परिश्रम नहीं करना चाहता, अतः उसे जो भी बासी व ठंढा भोजन मिल जाता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है। यदि उसे बना-बनाया राजसिक भोजन मिलता है, तो वह उसे खाने से मना नहीं करता, बल्कि और स्वाद लेकर पेट भरकर खाता है और इतना खाता है कि फिर उसे भोजन के बाद काम नहीं, बल्कि विश्राम करना पड़े।

किसी भी आहार पर तीन तरह का दोष लगता है—

(1) आश्रय दोष—अगर कोई व्यक्ति स्वभाव से सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी है, तो उसके द्वारा दिए जाने वाला आहार भी क्रमशः सतोगुणी, रजोगुणी व तमोगुणी आहार बन जाता है। सतोगुणी व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला आहार रजोगुणी या तमोगुणी होने पर भी अपना सतोगुणी प्रभाव दिखाता है, वहीं रजोगुणी या तमोगुणी व्यक्ति द्वारा सतोगुणी आहार देने पर भी वह अपना रजोगुणी या तमोगुणी प्रभाव ही दिखाता है।

(2) पदार्थ दोष—अगर खाद्य पदार्थ ही सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी है, तो वह भी अपना प्रभाव उसे ग्रहण करने वाले व्यक्ति पर दिखाता है।

(3) धन दोष—कोई भी व्यक्ति किस तरह से धन कमाता है, उसके आधार पर भी वह धन सतोगुणी, रजोगुणी या तमोगुणी बन जाता है। न्याय व नीतिपूर्वक, ईमानदारी व मेहनत से कमाया गया धन भले ही थोड़ा हो, लेकिन वह सतोगुणी होता है और उस धन से लाया जाने वाला अन्न भी सतोगुणी होता है।

जबकि छल-कपट, धोखा देकर, षड्यंत्र व अनीति का सहारा लेकर जो धन कमाया जाता है, वह धन भले ही अधिक मात्रा में हो, लेकिन वह अपना रजोगुणी प्रभाव दिखाता है और इस धन के द्वारा खरीदा जाने वाला, उपार्जित किया जाने वाला सात्त्विक अन्न भी अपना रजोगुणी प्रभाव दिखाता है। जबकि दूसरों को मारकर व लूटकर, हिंसा कर, हत्या करके कमाया जाने वाला धन तमोगुणी होता है और ऐसे धन से लाया जाने वाला सात्त्विक आहार भी अपना तमोगुणी प्रभाव दिखाता है।

इस तरह शारदीय नवरात्र के अवसर पर श्रीमद्भगवद्गीता में व्यक्तित्त्व के मनोआध्यात्मिक (त्रिगुणात्मक) स्वरूप व प्रकार की व्याख्या की गई। चूँकि भोजन तो सभी करते हैं, इसलिए ग्रहण किए जाने वाले भोजन के आधार पर भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्य की प्रकृति को पहचानने का एक सरल उपाय बताया है कि भोजन के प्रकार, उसके गुणों व उसमें किसी भी व्यक्ति की रुचि को परखकर यह बताया जा सकता है कि भोजन ग्रहण करने वाला व्यक्ति सात्त्विक, राजसिक व तामसिक किस प्रवृत्ति का है। इसके अलावा व्यक्ति के यज्ञ, तप व दान के स्वभाव को देखकर भी यह बताया जा सकता है कि वह व्यक्ति किस प्रकृति का है।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति की आदतों, रुचियों व कार्यपद्धति को देखकर भी उसकी सात्त्विक, राजसिक व तामसिक प्रकृति का अनुमान लगाया जा सकता है।

सात्त्विक, राजसिक व तामसिक प्रकृति वाले मनुष्यों में सात्त्विक प्रकृति का मनुष्य उत्कृष्ट व्यक्तित्व है, राजसिक प्रकृति का मनुष्य सामान्य व्यक्तित्व है और तामसिक प्रकृति का मनुष्य निकृष्ट व्यक्तित्व है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य होना चाहिए—उत्कृष्ट व्यक्तित्व की ओर जाना न कि निकृष्ट व्यक्तित्व की ओर, और इसके लिए सात्त्विक आहार-विहार व सात्त्विक दिनचर्या को अपनाकर ही तमस् से सत्त्व की ओर यात्रा की जा सकती है। ❑

परिजनों-पाठकों से निवेदन

एक अँधेरे से भरा वर्ष बीता। कोविड-19 के कारण सभी ओर एक अविज्ञात निराशावाद आ गया था। अब आशा की किरणें फूटी हैं। इस बीच विगत छह-सात माह से हमारा प्रयास रहा कि 'अखण्ड ज्योति' उनकी प्राणों की मूल चेतना हमारे प्रिय पाठकों को निरंतर मिलती रहे। पत्रिका सभी को अब माह के प्रारंभ में ही मिल जाती है, यह एक आशावाद का संकेत है।

इस ज्ञान-प्रवाह को हमें अपने परिचय क्षेत्र में अधिकाधिक स्वाध्याय प्रेमी परिजनों के पास पहुँचाने का प्रयास करना चाहिए। यह दिव्य प्रसाद सभी को मिले, कोई भी इससे वंचित न रहे, यह सुनिश्चित करें।

वार्षिक चंदा पूर्व के वर्ष की भाँति दो सौ बीस रुपया ही रहेगा। आजीवन (बीस वर्ष) और विदेश का चंदा भी पूर्ववत् रहेगा। अखण्ड ज्योति अपनी विशिष्ट सामग्री के साथ सबके पास पहुँचती रहेगी। परिजन इस ज्ञानगंगा को अविरल बनाए रखेंगे, ऐसा विश्वास है।

सभी को दीपोत्सव की मंगलकामनाएँ।

अपनों से अपनी बात

समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति हेतु एक अभूतपूर्व कदम

मनुष्य के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला अन्न भी उसके शरीर का निर्माण करता है। शरीर को ग्रहण किया गया अन्न, औषधि-वनस्पतियों का रूपांतरण कहा जा सकता है। यदि शरीर को ये पोषक पदार्थ न प्राप्त हों तो शरीर का स्वयं को जीवित रख पाना संभव न हो सकेगा। इन पोषक पदार्थों में उपस्थित रासायनिक तत्त्वों का परस्पर संतुलन ही मानवीय काया की जीवनीशक्ति का मूल आधार कहा जा सकता है। इसलिए ग्रहण किए जाने वाले आहार में यदि असंतुलन अथवा विषाक्तता का समावेश हो जाए तो शरीर में रोग, विकृतियाँ इत्यादि पनपने लगते हैं।

इन विकृतियों को सुधारने के लिए चाहे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान हो अथवा वनौषधि विज्ञान—सभी प्रयत्न ये ही करते हैं कि इस रासायनिक असंतुलन को सम्यक रूप से पुनर्स्थापित किया जाए। विषाक्त तत्त्वों को शरीर से निकालने की एवं आवश्यक तत्त्वों की शरीर में पूर्ति ही कमोबेश हर चिकित्सापद्धति का आधार मानी जा सकती है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारतीय आयुर्वेद या वनौषधि विज्ञान, वनस्पतियों का आश्रय लेता है, ताकि कम पड़ रहे खनिज, लवण, पोषक तत्त्वों की पूर्ति सहजता से की जा सके। खनिज एवं लवण यदि औषधियों के माध्यम से लिए जाते हैं तो उनका पाचन सहजता से संभव हो पाता है, अन्यथा उनको पचा पाना संभव नहीं हो पाता।

प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि जिस भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले निवासियों को जिस तत्त्व की कमी होती है—वह उन तत्त्वों को उसके निकटवर्ती क्षेत्र में उसी तरह की औषधियाँ, वनस्पतियाँ लगा करके कर देती है। जीव-जंतु इसी आधार पर अपने कष्टों व रोगों का निवारण स्वयं कर लेते हैं। जंगल में भला उन्हें चिकित्सा की सुविधाएँ कौन उपलब्ध कराएगा? इसी ज्ञान को आधार बनाकर महर्षि चरक ने भारतवर्ष की लगभग सभी जड़ी-बूटियों एवं वनस्पतियों का गुण संग्रह जनसामान्य के हित के लिए उपलब्ध करा दिया था। सारांश में यह कहा जा सकता है कि उनके प्रयत्न का ही यह परिणाम था कि मनुष्य इस सत्य से भिज्ञ हो सका कि शरीर की रुग्णता और दुर्बलता से सहज ही लड़ा जा सकता है, शर्त एक ही है कि उन औषधियों, पोषक पदार्थों का सही एवं सटीक ज्ञान हो।

इसी ज्ञान के आधार पर सुषैण वैद्य ने संजीवनी बूटी का उल्लेख करके भगवान लक्ष्मण का उपचार किया था। हुमायूँ से लेकर इब्राहीम लोधी के कष्टों का निवारण इसी तरह के ज्ञान से संभव हो पाया था। च्यवन ऋषि की नेत्र ज्योति अश्विनीकुमारों ने इसी ज्ञान के आधार पर लौटा दी थी। उसी के उपरांत च्यवनप्राश अवलेह जनसाधारण के लिए सहजता से उपलब्ध कराया जाता रहा है। शरीर की जीर्ण एवं रोगी हो चुकी कोशिकाओं को क्षय करके नई एवं नूतन कोशिकाओं को कायाकल्प के प्रयोग के माध्यम से सफल बनाया जाता था। साँप के जहर से लेकर कैंसर जैसे असाध्य रोगों की चिकित्सा ऐसे ही प्रयोगों द्वारा वर्षों से की जाती रही।

इसे एक दुर्भाग्य ही कहेंगे कि प्रकृतिप्रदत्त इन दिव्य अनुदानों को भूलकर आज मानवीय समुदाय केमिकलों, टॉनिकों, ऐंटीबायटिकों के पीछे बुरी तरह से भागता नजर आता है। तकलीफों के रात भर में निवारण करने की जिद ने इनसान की समझ को कुंद कर दिया है और वह यह भूल-सा बैठा है कि इन तीव्र, उत्तेजक, मादक पदार्थों को बारंबार लेने का दुष्परिणाम क्या होता है। रोग तो थोड़े दिन में चला जाता है, पर उन जहरीली दवाइयों का जहर लंबे समय तक इनसान को भाँति-भाँति के कष्ट उपहार में देता रहता है। उपचार की आशा के साथ गए लोग नए संकट और नवीन परेशानियाँ लेकर के लौटते हैं।

मानवीय समुदाय में बुरी तरह से व्याप्त इन समस्याओं का सटीक समाधान देने के उद्देश्य से ही परमपूज्य गुरुदेव ने इस ऋषि परंपरा का पुनर्जीवन शांतिकुंज के पुनीत प्रांगण में किया। यहाँ पर उनके द्वारा चलाए गए अनेकों अद्भुत प्रयोगों में एक प्रयोग इस ऋषि परंपरा का पुनर्जीवन करना रहा है। भारत की इस प्राचीन एवं सशक्त चिकित्सा-प्रणाली को पुनर्जीवन देना संपूर्ण भारतीय संस्कृति के लिए एक

अनुपम उदाहरण के रूप में गिना जा सकता है। हमारे अपने ज्ञान के प्रति स्वाभिमान का भाव जगाने के अतिरिक्त इस परंपरा को पुनर्जीवन देने का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि अनेक लोग जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के महँगे इलाजों को करा पाने के लिए आर्थिक आधार को नहीं रखते हैं, वे इसके माध्यम से अपने रोगों का सहज समाधान पा लेते हैं।

आज शांतिकुंज में स्थापित आयुर्वेद फार्मेसी में 80 से ज्यादा औषधियों का निर्माण किया जाता है। प्रज्ञापेय से लेकर सरस्वती पंचक जैसी अद्भुत औषधियों का निर्माण यहाँ पर किया जा रहा है, जिनको लेने के लिए देश-विदेश से व्यक्तियों का ताँता सदा लगा रहता है। अद्भुत बात यह है कि जहाँ ज्यादातर आयुर्वेदिक फार्मेसियों में इन औषधियों के दाम आसमान छूते नजर आते हैं और उनको लेना, एलोपैथी की दवाई से भी ज्यादा महँगा शौक बताया जा रहा है, वहाँ शांतिकुंज की फार्मेसी में आज भी औषधियाँ नगण्य दामों पर, जितना कम-से-कम संभव हो सके, उतने दामों पर मिलती नजर आती हैं।

इनका विक्रय करने में शांतिकुंज के अर्थतंत्र को भारी घाटा उठाना पड़ता है, पर इसके बावजूद परमपूज्य गुरुदेव के द्वारा दी गई इस सोच को यथावत् रखा गया है कि इन औषधियों को सामान्य व्यक्ति के आर्थिक आधार को ध्यान में रखकर ही विक्रय किया जाए। शांतिकुंज की फार्मेसी का आधार व्यवसाय करना नहीं, बल्कि ऋषि परंपरा का पुनर्जीवन करना है।

आज इन वनौषधियों को उनके शुद्ध रूप में प्राप्त करना भी बहुत चुनौतीपूर्ण हो गया है। पुराने समय में पंसारियों की दुकानों पर जड़ी-बूटियाँ मिल जाया करती थीं, पर आजकल तो इन सबका स्थान बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थानों ने ले लिया है। बड़ा मुनाफा कमाने की दौड़ में वे असली-नकली का ध्यान भी नहीं रखते और इसीलिए कई बार इन वनौषधियों को लेने के बाद भी व्यक्ति को कुछ लाभ नहीं होता दिखता है।

पुराने समय में इन औषधियों, पोषक तत्त्वों, वनस्पतियों को ढूँढ़ करके लाने का कार्य वैद्य किया करते थे। आजकल उन वैद्यों का स्थान मजदूरों ने ले लिया है, जिन्हें यह भी ढंग से नहीं पता होता कि किस औषधि का चिकित्सकीय गुण उसके कौन से हिस्से में है। इसीलिए बड़े-बड़े नामों वाली, बड़ी-बड़ी आयुर्वेदिक फार्मेसियों की दवाइयाँ भी कारगर नहीं हो पाती हैं।

इस समस्या का बेहतर समाधान परमपूज्य गुरुदेव ने वर्षों पहले ही कर दिया था, जब उन्होंने व्यवस्था बनाई कि शांतिकुंज की आयुर्वेदिक फार्मेसी मात्र परिचित वैद्यों से ही जड़ी-बूटियों को लिया करेगी। कई सारी जड़ी-बूटियाँ तो हजारों किलोमीटर की यात्रा करके मँगवायी जाती हैं। यह ही कारण है कि आज इतने वर्ष गुजर जाने के बाद भी शांतिकुंज फार्मेसी द्वारा बनाई जाने वाली जड़ी-बूटियों की गुणवत्ता में तनिक-सा भी अंतर नहीं आया है। इन वनौषधियों का निर्माण करने के अतिरिक्त सही जड़ी-बूटियाँ कैसी होती हैं—इसका उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए देव संस्कृति विश्वविद्यालय में एवं ब्रह्मवर्चस में एक विशेष उद्यान को भी लगाया गया है, ताकि लोग उन औषधियों को उनके मूल स्वरूप में कभी भी देख सकें।

जो धर्म संसार का आधार है,
उस धर्म को अपने आचरण में लाओ।
उसकी विडंबना मत करो।
वह तुम्हारे कार्य में एक ही अद्वितीय सहायक है।

इन कदमों को भी मात्र यहीं नहीं रोका गया है, बल्कि निरंतर चलने वाले वनौषधि प्रशिक्षण सत्रों के माध्यम से इस ज्ञान को भारत के कोने-कोने में ले जाया जा रहा है। इन औषधियों के चमत्कारिक गुणों से अवगत होने पर एवं उनके विषय में सही ज्ञान रखने पर गाँव-गाँव से इस तरह के प्रयास उत्पन्न हो सकेंगे, जिनसे इन तकलीफों को दूर करने को एक कारगर व्यवस्था बनाई जा सके। परमपूज्य गुरुदेव द्वारा शांतिकुंज में स्थापित इस प्रकल्प के माध्यम से जो परिणाम सामने निकल करके आए हैं, उनको देखकर यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यदि इस प्रयोग की पुनरावृत्ति अन्य जगहों पर भी हो सकी तो संपूर्ण मानव जाति के कल्याण का पथ सुनिश्चित रूप से प्रशस्त हो सकेगा। सभी के समग्र स्वास्थ्य की प्राप्ति की दिशा में इसे एक महत्त्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है। ❑

सप्तक्रांति = महाभारत

व्यामोह ग्रसित अर्जुन!
कर लो विराट-दर्शन!

अनिवार्य महाभारत, है सप्तक्रांतियों का।
निश्चित विनाश होगा, बाधाओं-भ्रांतियों का।
युगधर्म बन गया है, अब सप्तक्रांति का रण॥

है क्षेत्र बहुत विस्तृत, इस धर्मयुद्ध वाला।
कुरुक्षेत्र बहुत विस्तृत, है कर्मयुद्ध वाला।
है राष्ट्र-जागरण को, अब पाञ्चजन्य गर्जन॥

विकृतियों-विकारों से, लड़ना तुम्हें पड़ेगा।
व्यक्तित्व साधकों-सा, गढ़ना तुम्हें पड़ेगा।
अपने-परायेपन की, दृष्टि का कर विसर्जन॥

खुद महाकाल ने है, हर मोर्चा सँभाला।
श्रेयार्थी बनाने, हर पार्थ को उछाला।
सुन लो! विराट सत्ता, अब दे रही निमंत्रण॥

तुम सप्तक्रांतियों के, महाभारत को लड़ो अब।
महाकाल सारथी हैं, विजयश्री वरण करो अब।
ओ पार्थ! प्रतिभाओं के, प्रतिभा करो समर्पण॥

भारत को 'महाभारत' अब, फिर से बनाना है।
विश्व-राष्ट्र का आध्यात्मिक, नेतृत्व कराना है।
महाकाल ही करेंगे, निश्चित युग-प्रत्यावर्तन॥

—मंगल विजय 'विजयवर्गीय'

सद्ग्रंथ स्थापना अभियान का भव्य शुभारंभ

युगतीर्थ में शताधिक परिजनों के आवास में पूज्य गुरुदेव द्वारा लिखित ग्रंथों की प्रतिष्ठापूर्वक स्थापना

अखण्ड ज्योति
(मासिक)
R.N.I. No. 2162/52

प्र. ति. 01-11-2021
Regd. N0. Mathura-025/2021-2023
Licensed to Post without Prepayment
N0. : Agra/WPP-08/2021-2023

गायत्री परिवार यूथ ग्रुप (GPYG) से संबद्ध परिजनों द्वारा युगतीर्थ शांतिकुंज हरिद्वार में 569 वाँ **क्रमिक रविवासरीय वृक्षारोपण** देव संस्कृति विश्वविद्यालय परिसर में संपन्न

अखिल विश्व गायत्री परिवार के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिकुलपति देव संस्कृति विश्वविद्यालय को मध्यप्रदेश शासन के संस्कृति विभाग द्वारा स्थापित राष्ट्रीय महात्मा गांधी सम्मान' प्रदत्त

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक – मृत्युंजय शर्मा द्वारा जनजागरण प्रेस, बिरला मंदिर के सामने, जयसिंहपुरा, मथुरा से मुद्रित व अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामंडी, मथुरा–281003 से प्रकाशित। संपादक – डॉ. प्रणव पण्ड्या।
दूर भाष–0565-2403940, 2402574, 2412272, 2412273 मो बा.–09927086291, 07534812036, 07534812037, 07534812038, 07534812039
ईमेल– akhandjyoti@akhandjyotisansthan.org